186852

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_186852
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H831 P92S   Accession No. P. G. H988

Author प्रेमचन्द ·

Title सप्तसुमन · 1948 ·

This book should be returned on or before the date last marked below.

प्रकाशक—
सरस्वती-प्रेस, बनारस।

मुद्रक
श्रीपतराय
सरस्वती प्रेस, बनारस।

भूमिका

संसार के वर्तमान साहित्य में कहानी या गल्प का विशेष स्थान है और उसे यह स्थान पिछले दस-पाँच वर्षों में ही प्राप्त हुआ है। साहित्य की प्रायः सभी परीक्षाओं में कहानियों का कोई-न-कोई संग्रह अवश्य रखा जाता है। मध्यमा और बी० ए० की परीक्षाओं में मेरा एक संग्रह पढ़ाया जाता है। पर हाई स्कूलों के उपयुक्त ऐसा कोई संग्रह न था। उसी कमी को पूरा करने के लिए यह संग्रह प्रकाशित किया गया।

हरेक काल में साहित्य का कोई अंग जनरुचि का मुख्य स्रोत बन जाया करता है। एक समय समस्या-पूर्तियों के आधिपत्य का था। नाटकों का भी बहुत दिनों तक साहित्य पर आधिपत्य रहा। फिर उपन्यासों का ज़माना आया। अब गल्पों का काल है। उन पत्रिकाओं में जिन पर किसी विशेष सम्प्रदाय की छाप नहीं होती, गल्पों ही का प्राधान्य रहा है। युवक ही नहीं, साहित्य के मर्मज्ञ भी कहानियों को अपने संदेशों और अनुभवों के प्रचार का साधन बना लेते हैं। आज संसार का ऐसा कोई बड़ा साहित्य-सेवी नहीं है, जिसने कहानियाँ लिखकर अपनी प्रतिभा का परिचय न दिया हो। मुझे आशा है कि इन कहानियों के पढ़ने से सुकुमारों में सुरुचि उत्पन्न होगी और वे संसार के बड़े-बड़े गल्प लेखकों की रचनाओं का रसास्वादन करेंगे।

सूची

बैर का अन्त	१
मन्दिर	१०
ईश्वरीय न्याय	१६
सुजान भगत	४०
ममता	५३
सती	६८
गृह-दाह	८१

वैर का अन्त

१

रामेश्वरराय अपने बड़े भाई के शव को खाट से नीचे उतारते हुए छोटे भाई से बोले—तुम्हारे पास कुछ रुपये हों तो लाओ, दाह-क्रिया की फिक्र करें, मैं तो बिलकुल खाली हाथ हूँ।

छोटे भाई का नाम विश्वेश्वरराय था। वह एक ज़मींदार का कारिन्दा था, आमदनी अच्छी थी। बोले, आधे रुपये मुझसे ले लो। आधे तुम निकालो।

रामेश्वर—मेरे पास रुपये नहीं हैं।

विश्वेश्वर—तो फिर इनके हिस्से के खेत रेहन रख दो।

रा०—तो जाओ, कोई महाजन ठीक करो। देर न लगे। विश्वेश्वरराय ने अपने एक मित्र से कुछ रुपये उधार लिए, उस वक्त का काम चला। पीछे कुछ रुपये लिए, खेत की लिखा-पढ़ी कर दी। कुल पाँच बीघे ज़मीन थी। ३००) मिले। गाँव के लोगों का तो अनुमान है कि क्रिया-कर्म में मुश्किल से १००) उठे होंगे; पर विश्वेश्वरराय ने षोडशी के दिन ३०१) का लेखा भाई के सामने रख दिया। रामेश्वरराय ने चकित होकर पूछा—सब रुपये उठ गये?

विश्वे०—क्या मैं इतना नीच हूँ कि मरनी के रुपये भी कुछ उठा रक्खूँगा। किसको यह धन पचेगा?

राम०—नहीं, मैं तुम्हें बेईमान नहीं बनाता, खाली पूछता था।

विश्वे०—कुछ शक हो तो जिस बनिये से चीज़ें ली गई हैं, उससे पूछ लो।

२

साल-भर के बाद एक दिन विश्वेश्वरराय ने भाई से कहा—रुपये हों तो लाओ, खेत छुड़ा लें।

रामे०—मेरे पास रुपये कहाँ से आये। घर का हाल तुमसे छिपा थोड़े ही है

विश्वे०—तो मैं सब रुपये देकर ज़मीन छोड़ाये लेता हूँ। जब तुम्हारे पास रुपये हों, आधा देकर अपनी आधी ज़मीन मुझसे ले लेना।

रामे०—अच्छी बात है, छुड़ा लो।

३० साल गुज़र गये। विश्वेश्वरराय ज़मीन को भोगते रहे, उसे खाद-गोबर से खूब सजाया।

उन्होंने निश्चय कर लिया था कि यह ज़मीन न छोड़ूँगा। मेरा तो इस पर मौरूसी हक़ हो गया। अदालत से भी कोई नहीं ले सकता। रामेश्वरराय ने कई बार यत्न किया कि रुपये देकर अपना हिस्सा ले लें; तीस साल में वे कभी १५०) जमा न कर सके।

मगर वह रामेश्वरराय का लड़का जागेश्वर कुछ सँभल गया। वह गाड़ी लादने का काम करने लगा था और इस काम में उसे अच्छा नफ़ा भी होता था। उसे अपने हिस्से की रात-दिन चिन्ता लगी रहती थी। अन्त में उसने रात-दिन श्रम करके यथेष्ट धन बटोर लिया और एक दिन चचा से बोला—काका, अपने रुपये ले लीजिए। मैं अपना नाम चढ़वा लूँ।

विश्वे०—अपने बाप के तुम्हीं चतुर बेटे नहा हो। इतने दिनों तक कान न हिलाये, अब मैंने ज़मीन सोना बना लिया तब हिस्सा बाँटने चले हो।

रामे०—तुमने ज़मीन सोना बना दिया तो उसका नफ़ा भी तो उठाया। मैं तुमसे माँगने तो नहीं गया था।

विश्वे०—तो अब ज़मीन न मिलेगी।

रामे०—भाई का हक़ मारकर कोई सुखी नहीं रहता।

विश्वे०—ज़मीन हमारी है। भाई की नहीं है।

जागे०—तो आप सीधे से न दीजियेगा?

विश्वे०—न सीधे से दूँगा, न टेढ़े से दूँगा। अदालत करो।

जागे०—अदालत करने की मुझे सामर्थ्य नहीं है; पर कह देता हूँ कि ज़मीन चाहे मुझे न मिले; पर आप के पास भी न रहेगी।

विश्वे०—यह धमकी जाकर किसी और को दो।

जागे०—फिर यह न कहियेगा कि भाई होकर वैरी हो गया।

विश्वे०—एक हजार गाँठ में रखकर तब जो कुछ जी में आये करना।

जागे०—मैं गरीब आदमी हजार रुपये कहाँ से लाऊँगा ; पर कभी कभी भगवान् दीनों पर दयालु हो जाते हैं।

विश्वे०—मैं इस डर से बिल नहीं खोद रहा हूँ।

रामेश्वरराय तो चुप हो रहा ; पर जागेश्वर इतना क्षमाशील न था। वकीलों से बात-चीत की। वह अब आधी नहीं ; पूरी ज़मीन पर दाँत लगाये हुए था।

मृत सिद्धेश्वरीराय के एक लड़की तपेश्वरी थी। अपने जीवन काल में वे उसका विवाह कर चुके थे। उसे कुछ मालूम ही न था कि बाप ने क्या छोड़ा और किसने लिया। क्रिया-कर्म अच्छी तरह हो गया ; वह इसी में खुशी थी। षोडशी में आई थी। फिर ससुराल चली गई। ३० वर्ष हो गये, न किसी ने बुलाया, न वह मैके आई। ससुराल की दशा भी अच्छी न थी। पति का देहान्त हो चुका था। लड़के भी अल्प वेतन पर नौकर थे। जागेश्वर ने अपनी फूफी को उभारना शुरू किया। वह उसी को मुद्दई बनाना चाहता था।

तपेश्वरी ने कहा—बेटा, मुझे भगवान् ने जो दिया है, उसी में मगन हूँ। मुझे जगह-जमीन न चाहिये। मेरे पास अदालत करने को धन नहीं है।

जागे—रुपये मैं लगाऊँगा, तुम खाली दावा कर दो।

तपेश्वरी—भैया, तुम्हें लड़ाकर किसी काम का न रक्खेंगे।

जागे०—यह नहीं देखा जाता कि वे जायदाद लेकर मज़े उड़ावें और हम मुँह ताकें। मैं अदालत का ख़र्च दे दूँगा। इस ज़मीन के पीछे बिक जाऊँगा ; पर उनका गला न छोड़ूँगा।

तपेश्वरी—अगर ज़मीन मिल भी गयी तो तुम अपने रुपयों के एवज में ले लोगे, मेरे हाथ क्या लगेगा ? मैं भाई से क्यों बुरी बनूँ ?

जागे०—ज़मीन आप ले लीजियेगा, मैं केवल चचा साहब का घमंड तोड़ना चाहता हूँ।

तपेश्वरी—अच्छा जाओ, मेरी तरफ से दावा कर दो।

जागेश्वर ने सोचा, जब चाचा साहब की मुट्ठी से जमीन निकल आयेगी तब मैं दस-पाँच रुपये साल पर इनसे ले लूँगा। इन्हें अभी कौड़ी नहीं मिलती। जो कुछ मिलेगा, उसी को बहुत समझेंगी। दूसरे दिन दावा कर दिया। मुंसिफ

के इजलास में मुकदमा पेश हुआ। विश्वेश्वर राय ने सिद्ध किया कि तपेश्वरी सिद्धेश्वरराय की कन्या ही नहीं है।

गाँव के आदमियों पर विश्वेश्वर का दबाव था। सब लोग उनसे रुपये पैसे उधार ले जाते थे। मामले-मुकदमे में उनसे सलाह लेते। सबने अदालत में बयान किया कि हम लोगों ने कभी तपेश्वरी को नहीं देखा। सिद्धेश्वर के कोई लड़की ही न था। जागेश्वर ने बड़े-बड़े वकीलों से पैरवी करायी, बहुत धन खर्च किया, लेकिन मुंसिफ ने उसके विरुद्ध फैसला सुनाया। बेचारा हताश हो गया। विश्वेश्वर की अदालत में सबसे जान-पहचान थी। जागेश्वर को जिस काम के लिए मुट्ठियों रुपये खर्च करने पड़ते थे, वह विश्वेश्वर मुरौवत में करा लेता।

जागेश्वर ने अपील करने का निश्चय किया। रुपये न थे, गाड़ी-बैल बेच डाले। अपील हुई। महीनों मुकदमा चला। बेचारे सुबह से शाम तक कचहरी के अमलों और वकीलों की खुशामद किया करता, रुपये भी उठ गये, महाजनों से ऋण लिया। भारे में अब की उसकी डिग्री हो गई। पाँच सौ का बोझ सिर पर हो गया था, पर अब जीत ने आँसू पोंछ दिये।

विश्वेश्वर ने हाईकोर्ट में अपील की। जागेश्वर को अब कहीं से रुपये न मिले। विवश होकर अपने हिस्से की जमीन रेहन रक्खी। फिर घर बेचने की नौबत आई। यहाँ तक कि स्त्रियों के गहने भी बिक गये। अन्त में हाईकोर्ट से भी उसकी जीत हो गई। आनन्दोत्सव में बची-खुची पूँजी भी निकल गई। एक हजार पर पानी फिर गया। हाँ, सन्तोष यही था कि ये पाँचों बीघे मिल गये। तपेश्वरी क्या इतनी निर्दय हो जायगी कि थाली मेरे सामने से खींच ले।

लेकिन खेतों पर अपना नाम चढ़ाते ही तपेश्वरी की नीयत बदली। उसने एक दिन गाँव में आकर पूछ-ताछ की तो मालूम हुआ कि पाँचों बीघे १००) में उठ सकते हैं। लगान केवल २५) था, ७५) साल का नफा था। इस रकम ने उसे विचलित कर दिया। उसने असामियों को बुलाकर उसके साथ बन्दोबस्त कर दिया। जागेश्वरराय हाथ मलता रह गया। आखिर उससे न रहा गया। बोला—फूफीजी, आपने जमीन तो दूसरों को दे दी, अब मैं कहाँ जाऊँ?

तपेश्वरी—बेटा, पहले अपने घर में दिया जलाकर तब मसजिद में जलाते हैं। इतनी जगह मिल गई, तो मैके से नाता हो गया, नहीं तो कौन पूछता।

जागे०—मैं तो उजड़ गया!

तपेश्वरी—जिस लगान पर और लोग ले रहे हैं, उनमें दो-चार रुपये कम करके तुम्हीं क्यों नहीं ले लेते?

तपेश्वरी तो दो-चार दिन में विदा हो गई। रामेश्वरराय पर वज्रपात-सा हो गया। बुढ़ापे में मजदूरी करनी पड़ी। मानमर्यादा से हाथ धोया। रोटियों के लाले पड़ गये। बाप-बेटे दोनों प्रातःकाल से संध्या तक मजदूरी करते, तब कहीं आग जलती। दोनों में बहुधा तकरार हो जाती। रामेश्वर सारा अपराध बेटे के सिर रखता। कहता, आपने मुझे रोका होता तो मैं क्यों इस विपत्ति में फँसता। उधर विश्वेश्वरराय ने महाजनों को उसका दिया। साल भी न गुजरने पाया था कि बेचारे निराधार हो गये—जमीन निकल गई, घर नीलाम हो गया, दस बीस पेड़ थे, वे भी नीलाम हो गये। चौबेजी दूबे न बने, दरिद्र हो गये। इस पर विश्वेश्वरराय के ताने और भी गजब ढाते। यह विपत्ति का सबसे नोंकदार काँटा था, आतङ्क का सबसे निर्दय आघात था।

दो साल तक इस दुःखी परिवार ने जितनी मुसीबतें झेलीं, यह उन्हीं का दिल जानता है। कभी पेट-भर भोजन न मिला। हाँ, इतनी आन थी कि नीयत नहीं बदली। दरिद्रता ने सब कुछ किया, पर आत्मा का पतन न कर सकी। कुल-मर्यादा में आत्मरक्षा की बड़ी शक्ति होती है।

एक दिन संध्या-समय दोनों आदमी बैठे आग ताप रहे थे कि सहसा एक आदमी ने आकर कहा—ठाकुर चलो, विश्वेश्वरराय तुम्हें बुलाते हैं।

रामेश्वर ने उदासीन भाव से कहा मुझे क्यों बुलायेंगे? मैं उनका कौन होता हूँ? क्या कोई और उपद्रव खड़ा करना चाहते हैं?

इतने में दूसरा आदमी दौड़ा हुआ आकर बोला—ठाकुर, जल्दी चलो, विश्वेश्वरराय की दशा अच्छी नहीं है।

विश्वेश्वरराय को इधर कई दिनों से खाँसी-बुखार की शिकायत थी; लेकिन शत्रुओं के विषय में हमें किसी अनिष्ट की शङ्का नहीं होती। रामेश्वर और जागेश्वर कभी कुशल-समाचार पूछने भी न गये। कहते, उन्हें हुआ क्या है।

जागे०—न भर पेट खायँगे, आधे ही पेट सही। बदनामी तो न होगी? चचा से लड़ाई थी। लड़कों ने हमारा क्या बिगाड़ा है?

रामे०—वह चुड़ैल तो अभी जीती है न?

जागेश्वर चला आया। उसके मन में कई बार यह बात आई थी कि चाची को कुछ सहायता दिया करूँ, पर उनकी जली कटी बातों से डरता था आज से उसने एक नया ढंग निकाला है। लड़कों को खेलते देखता तो बुला लेता, कुछ खाने को दे देता। मजूरों को दोपहर की छुट्टी मिलती है। अब वह अवकाश के समय काम करके मजूरी के पैसे कुछ ज्यादा पा जाता। घर चलते समय खाने की कोई न कोई चीज लेता आता और अपने घरवालों की आँख बचाकर उन अनाथों को देता। धीरे-धीरे लड़के उससे इतने हिल-मिल गये कि उसे देखते ही 'भैया-भैया' कहकर दौड़ते, दिन-भर उसकी राह देखा करते। पहले माता डरती थी कि कहीं मेरे लड़कों को बहलाकर ये महाशय पुरानी अदावत तो नहीं निकालना चाहते हैं। वह लड़कों को जागेश्वर के पास जाने और उससे कुछ लेकर खाने से रोकती; पर लड़के शत्रु और मित्र को बूढ़ों से ज्यादा पहचानते हैं। लड़के माँ के मना करने की परवा न करते, यहाँ तक कि शनैः-शनैः माता को भी जागेश्वर की सहृदयता पर विश्वास आ गया।

एक दिन रामेश्वर ने बेटे से कहा—तुम्हारे पास रुपये बढ़ गये हैं, सो चार पैसे जमा क्यों नहीं करते? लुटाते क्यों हो?

जागे०—मैं तो एक-एक कौड़ी की किफायत करता हूँ।

रामे०—जिन्हें अपना समझ रहे हो, वे एक दिन तुम्हारे शत्रु होंगे।

जागे०—आदमी का धर्म भी तो कोई चीज है। पुराने वैर पर एक परिवार को भेंट नहीं कर सकता। मेरा बिगड़ता ही क्या है, यही न, रोज घण्टे दो-घण्टे और मेहनत करनी पड़ती है।

रामेश्वर ने मुँह फेर लिया। जागेश्वर घर में गया तो उसकी स्त्री ने कहा—अपने मन की ही करते हो। चाहे कितना ही समझाये। पहले घर में आदमी दिया जलाता है।

जागे०—लेकिन यह तो उचित नहीं कि अपने घर में दिया की जगह मोमबत्तियाँ जलायें और मसजिद को अँधेरा ही छोड़ दें।

स्त्री—मैं तुम्हारे साथ क्या पड़ी, मानो कुएँ में गिर पड़ी। कौन सुख देते हो? गहने उतार लिए, अब साँस भी नहीं लेते।

जागे०—मुझे तुम्हारे गहनों से भाइयों की जान ज्यादा प्यारी है।

स्त्री ने मुँह फेर लिया और बोली—वैरी की सन्तान कभी अपनी नहीं होती।

जागेश्वर ने बाहर जाते हुए उत्तर दिया—वैर का अन्त वैरी के जीवन के साथ हो जाता है।

मन्दिर

१

मातृ-प्रेम, तुझे धन्य है। संसार में और जो कुछ है, मिथ्या है, निस्सार है। मातृ प्रेम ही सत्य है, अक्षय है अनश्वर है। तीन दिन से सुखिया के मुँह में अन्न का न एक दाना गया था, न पानी की एक बूँद। सामने पुआल पर माता का नन्हा सा लाल पड़ा कराह रहा था। आज तीन दिन से उसने आँखें नहीं खोली थीं। कभी उसे गोद में उठा लेती, कभी पुआल पर सुला देती। हँसते-खेलते बालक को अचानक क्या हो गया, यह कोई नहीं बताता था। ऐसी दशा में माता को भूख और प्यास कहाँ? एक बार पानी का एक घूँट मुँह में लिया था, पर कण्ठ के नीचे न ले जा सकी। इस दुखिया की विपत्ति का वार पार न था। साल-भर के भीतर दो बालक गंगा की गोद में सौंप चुकी थी। पतिदेव पहले ही सिधार चुके थे। अब उस अभागिनी के जीवन का आधार, अवलम्ब जो था यही बालक। हाय! क्या ईश्वर इसे भी उसकी गोद से छीन लेना चाहते हैं? यह कल्पना करते ही माता की आँखों से झर-झर आँसू बहने लगते थे। इस बालक को वह एक क्षण-भर के लिए भी अकेला न छोड़ती। उसे साथ लेकर घास छीलने जाती। घास बेचने बाजार जाती तो बालक गोद में होता। उसके लिए उनसे एक नन्ही सी खुरपी और नन्हीं सी खाँची बनवा दी थी। जियावन माता के साथ घास छीलता और गर्व से कहता—अम्माँ! हमें भी बड़ी-सी खुरपी बनवा दो, हम बहुत-सी घास छीलेंगे। तुम द्वारे माची पर बैठी रहना अम्माँ, मैं घास बेच लाऊँगा! माँ पूछती—हमारे लिए क्या क्या लाओगे, बेटा! जियावन लाल-लाल साड़ियों का वादा करता। अपने लिए बहुत-सा गुड़ लाना चाहता था। वे ही भोली-भोली बातें इस समय याद आ-आकर माता के हृदय को शूल के समान बेध रही थीं। जो बालक को देखता, यही कहता—

किसी की डीठ है; पर किसकी डीठ है? इस विधवा का भी संसार में कोई बैरी है। अगर उसका नाम मालूम हो जाता, तो सुखिया जाकर उसके चरणों पर गिर पड़ती और बालक को उसकी गोद में रख देती। क्या उसका हृदय दया से न पिघल जाता? पर नाम तो कोई नहीं बतलाता। हाय, किससे पूछे, क्या करे!!

२

तीन पहर रात बीत चुकी थी। सुखिया का चिन्ता-व्यथित, चञ्चल मन कोठे-कोठे दौड़ रहा था। किस देवी की शरण जाय, किस देवता की मनौती करे, इसी सोच में पड़े-पड़े उसे एक झपकी आ गई। क्या देखती है कि उसका स्वामी आकर बालक के सिरहाने खड़ा हो जाता है और बालक के सिर पर हाथ फेरकर कहता है—रो मत सुखिया, तेरा बालक अच्छा हो जायगा। कल ठाकुरजी की पूजा कर दे, वही तेरे सहाय होंगे। यह कहकर वह चला गया। सुखिया की आँख खुल गई। अवश्य ही उसके पतिदेव आये थे, इसमें सुखिया को जरा भी सन्देह न हुआ। उन्हें अब भी मेरी सुधि है, यह सोचकर उसका हृदय आशा से परिप्लावित हो उठा। पति के प्रति श्रद्धा और प्रेम से उसकी आँखें सजल हो गईं। उसने बालक को गोद में उठा लिया। और आकाश की ओर ताकती हुई बोली—भगवान्! मेरा बालक अच्छा हो जाय, मैं तुम्हारी पूजा करूँगी। अनाथ विधवा पर दया करो।

उसी समय जियावन की आँखें खुल गईं। उसने पानी माँगा। माता ने दौड़कर कटोरे में पानी लिया और बच्चे को पिला दिया।

जियावन ने पानी पीकर कहा—अम्माँ, रात है कि दिन?

सुखिया—अभी तो रात है बेटा, तुम्हारा जी कैसा है?

जियावन—अच्छा है अम्माँ। अब मैं अच्छा हो गया।

सुखिया—तुम्हारे मुँह में घी-शक्कर हो बेटा, भगवान् करे तुम जल्द अच्छे हो जाओ। कुछ खाने को जी चाहता है?

जियावन—हाँ अम्माँ, थोड़ा-सा गुड़ दे दो।

सुखिया—गुड़ मत खाओ, भैया, अवगुन करेगा। कहो तो खिचड़ी बना दूँ।

जियावन—नहीं मेरी अम्माँ, जरा-सा गुड़ दे दो, तेरे पैर पड़ूँ।

माता इस आग्रह को टाल न सकी। उसने थोड़ा-सा गुड़ निकालकर जिया-

वन के हाथ में रख दिया और हाँड़ी वहीं छोड़कर वह किवाड़ खोलने चली गयी। जियावन ने गुड़ की दो पिंडियाँ निकाल लीं और जल्दी-जल्दी चट कर गया।

३

दिन भर जियावन की तबीयत अच्छी रही। उसने थोड़ी-सी खिचड़ी खाई, दो-एक बार धीरे-धीरे द्वार पर भी आया और हम-जोलियों के साथ खेल न सकने पर भी उन्हें खेलते देखकर उसका जी बहल गया। सुखिया ने समझा, बचा अच्छा हो गया। दो-एक दिन में जब पैसे हाथ में आ जायँगे, तो वह एक दिन ठाकुरजी की पूजा करने चली जायगी। जाड़े के दिन झाड़ू-बहारू, नहाने-धोने और खाने पीने में कट गये, मगर जब संध्या-समय फिर जियावन का जी भारी हो गया, तो सुखिया घबरा उठी, तुरन्त मन में शंका उत्पन्न हुई कि पूजा में विलम्ब करने से ही बालक फिर मुरझा गया है। अभी थोड़ा-सा दिन बाकी था। बच्चे को लेटाकर वह पूजा का सामान करने लगी। फूल तो जमींदार के बगीचे में मिल गये। तुलसी दल द्वार ही पर था, पर ठाकुरजी के भोग के लिए कुछ मिष्टान्न तो चाहिए; नहीं तो गाँववालों को बाँटेगी क्या? चढ़ाने के लिए कम से-कम एक आना तो चाहिए ही। सारा गाँव छान आई, कहीं पैसे उधार न मिले। तब वह हताश हो गई। हाय रे अदिन! कोई चार आने पैसे भी नहीं देता। आखिर उसने अपने हाथों के चाँदी के कड़े उतारे और दौड़ी हुई बनिये की दूकान पर गई, कड़े गिरों रक्खे, बतासे लिये और दौड़ी हुई घर आई। पूजा का सामान तैयार हो गया, तो उसने बालक को गोद में उठाया और दूसरे हाथ में पूजा की थाली लिये मन्दिर की ओर चली।

मन्दिर में आरती का घण्टा बज रहा था। दस-पाँच भक्तजन खड़े स्तुति कर रहे थे। इतने में सुखिया जाकर मन्दिर के सामने खड़ी हो गई।

पुजारी ने पूछा—क्या है रे? क्या करने आई है?

सुखिया चबूतरे पर आकर बोली—ठाकुरजी की मनौती की थी महाराज पूजा करने आई हूँ।

पुजारीजी दिनभर जमींदार के असामियों की पूजा किया करते थे और शाम-सबेरे ठाकुरजी की। रात को मन्दिर ही में सोते थे; मन्दिर ही में आपका भोजन

भी बनता था जिससे ठाकुरद्वारे की सारी अस्तकारी काली पड़ गई थी। स्वभाव के बड़े दयालु थे, निष्ठावान् ऐसे कि चाहे कितनी ठण्ढ पड़े, कितनी ही ठण्ढी हवा चले, बिना स्नान किये मुँह में पानी न डालते थे। अगर इसपर उनके हाथों और पैरों में मैल की मोटी तह जमी हुई थी, तो इसमें उनका कोई दोष न था बोले—तो क्या भीतर चली आवेगी? हो तो चुकी पूजा, यहाँ आकर भरभ्रष्ट करेगी?

एक भक्तजन ने कहा—ठाकुरजी को पवित्र करने आई है!

सुखिया ने बड़ी दीनता से कहा—ठाकुरजी के चरन छूने आई हूँ, सरकार! पूजा की सामग्री लाई हूँ।

पुजारी—कैसी बेसमझी की बात करती है रे, कुछ पगली तो नहीं हो गयी है! भला ठाकुरजी को कैसे छुएगी?

सुखिया को अभी तक ठाकुरद्वारे में आने का अवसर न मिला था। आश्चर्य से बोली—सरकार, मेरे छूने से उन्हें कैसे छूत लग जायगी?

पुजारी अरे, तू चमारिन है कि नहीं रे?

सुखिया—तो क्या भगवान ने चमारों को नहीं सिरजा है! चमारों के भगवान कोई और हैं? इस बच्चे की मनौती है सरकार!

इसपर उसी भक्त महोदय ने, जो अब स्तुति समाप्त कर चुके थे, डपटकर कहा—मार के भगा दो चुड़ैल को, भरभ्रष्ट करने आई है, फेंक दो थालीवाली। संसार में तो आपही आग लगी हुई है, चमार भी ठाकुरजी की पूजा करने लगेंगे तो पिरथी रहेगी कि रसातल को चली जायगी?

दूसरे भक्त महाशय बोले—अब बेचारे ठाकुरजी को भी चमारों के हाथ का भोजन करना पड़ेगा। अब परलय होने में कुछ भी कसर नहीं है।

ठण्ढ पड़ रही थी। सुखिया खड़ी काँप रही थी और यहाँ धर्म के ठेकेदार लोग समय की गति पर आलोचनाएँ कर रहे थे। बच्चा मारे ठण्ढ के उसकी छाती में घुसा जा रहा था, किन्तु सुखिया यहाँ से हटने का नाम न लेती थी। ऐसा मालूम होता था कि उसके दोनों पाँव भूमि में गड़ गये हैं। रह-रहकर उसके हृदय में ऐसा उद्गार उठता था कि जाकर ठाकुरजी के चरणों पर गिर पड़े। ठाकुरजी क्या इन्हीं के हैं, हम गरीबों का उनसे कोई नाता नहीं है, वे

लोग कौन होते हैं रोकनेवाले ; पर यह भय होता था कि इन लोगों ने कहीं सचमुच थाली-वाली फेंक दी तो क्या करूँगी ? दिल में ऐंठकर रह जाती थी। सहसा उसे एक बात सूझी। वह वहाँ से कुछ दूर जाकर एक वृक्ष के नीचे अँधेरे में छिपकर इन भक्तजनों के जाने की राह देखने लगी।

४

आरती और स्तुति के पश्चात् भक्तजन बड़ी देर तक श्रीमद्भागवत का पाठ करते रहे। उधर पुजारी ने चूल्हा जलाया और खाने-पकाने लगे। चूल्हे के सामने बैठे हुए 'हूँ-हूँ' करते जाते थे और बीच में टिप्पणियाँ भी करते जाते थे। दस बजे रात तक कथा-वार्ता होती रही और सुखिया वृक्ष के नीचे ध्यानावस्था में खड़ी रही।

बारे भक्त लोगों ने एक-एक करके घर की राह ली। पुजारीजी अकेले रह गये। तब सुखिया आकर मन्दिर के बरामदे के सामने खड़ी हो गई, जहाँ पुजारीजी आसन जमाए बटलोई का क्षुधावर्द्धक मधुर संगीत सुनने में मग्न थे। पुजारीजी ने आहट पाकर गरदन उठाई, तो सुखिया को खड़ी देखा। चिढ़कर बोले—क्यों रे, तू अभी यहीं खड़ी है ?

सुखिया ने थाली जमीन पर रख दी और एक हाथ फैलाकर भिक्षा-प्रार्थना करती हुई बोली—महाराजजी, मैं बड़ी अभागिनी हूँ। यही बालक मेरे जीवन का अलम है, मुझपर दया करो। तीन दिन से इसने सिर नहीं उठाया। तुम्हें बड़ा जस होगा, महाराजजी।

यह कहते-कहते सुखिया रोने लगी। पुजारीजी दयालु तो थे ; पर चमारिन को ठाकुरजी के समीप जाने देने का अश्रुतपूर्व घोर पातक वह कैसे कर सकते थे ? न-जाने ठाकुरजी इसका क्या दण्ड दें। आखिर उनके भी तो बाल-बच्चे थे। कहीं ठाकुरजी कुपित होकर गाँव का सर्वनाश कर दें तो ? बोले—घर जाकर भगवान का नाम ले, तेरा बालक अच्छा हो जायगा। मैं यह तुलसी देता हूँ, बच्चे को खिला दे, चरणामृत उसकी आँखों में लगा दे। भगवान चाहेंगे तो सब अच्छा ही होगा।

सुखिया—ठाकुरजी के चरणों पर गिरने न दोगे, महाराजजी ? बड़ी दुखिया हूँ, उधार काढ़कर पूजा की सामग्री जुटाई है। मैंने कल सपना देखा था महा-

राजजी कि ठाकुरजी की पूजा कर, तेरा बालक अच्छा हो जायगा। तभी दौड़ी आई हूँ, मेरे पास रुपया है वह मुझसे ले लो ; पर मुझे एक छनभर ठाकुरजी के चरनों पर गिर लेने दो।

इस प्रलोभन ने पण्डितजी को एक क्षण के लिए विचलित कर दिया ; किन्तु मूर्खता के कारण ईश्वर का भय उनके मन में कुछ-कुछ बाकी था। सँभलकर बोले—अरी पगली, ठाकुरजी भक्तों के मन का भाव देखते हैं कि चरन गिरना देखते हैं। सुना नहीं है—'मन चङ्गा तो कठौती में गङ्गा।' मन में भक्ति न हो तो, लाख भगवान के चरणों पर गिरे, कुछ न होगा। मेरे पास एक जन्तर है। दाम तो उसका बहुत है ; पर तुझे एक रुपये में दूँगा। उसे बच्चे के गले में बाँध देना ; बस, कल बच्चा खेलने लगेगा।

सुखिया—तो ठाकुरजी की पूजा न करने दोगे ?

पुजारी—मेरे लिए इतनी पूजा बहुत है। जो बात कभी नहीं हुई वह, आज मैं कर दूँ और गाँव पर कोई आफत-बिपत पड़े तो क्या हो, इसे भी तो सोच ! तू यह जन्तर ले जा, भगवान चाहेंगे तो रात ही भर में बच्चे का कलेश कट जायगा। किसी की डीठ पड़ गई है। है भी चोंचाल ! मालूम होता है छत्तरी वंश है।

सुखिया—जबसे इसे जर आया है, मेरे प्राण नहों में समाये हुए हैं।

पुजारी—बड़ा होनहार बालक है। भगवान जिला दें, तेरे सारे संकट हर लेगा। यहाँ तो बहुत खेलने आया करता था। इधर दो-तीन दिन से नहीं देखा था।

सुखिया—तो जन्तर कैसे बाँधूँगी, महाराज ?

पुजारी—मैं कपड़े में बाँध देता हूँ, बस गले में बाँध देना। अब तू इस बेला नवीन बसतर कहाँ खोजने जायगी।

सुखिया ने दो रुपये पर कड़े गिरों रक्खे थे। एक पहले ही भँजा चुकी थी। दूसरा पुजारीजी को भेंट किया और जन्तर लेकर मन को समझाती हुई घर लौट आई।

५

सुखिया ने घर पहुँचकर बालक के गले में यन्त्र बाँध दिया ; पर ज्यों-ज्यों रात गुजरती थी, उसका ज्वर भी बढ़ता जाता था, यहाँ तक कि तीन बजते-बजते

उसके हाथ-पाँव शीतल होने लगे। तब तो वह घबड़ा उठी और सोचने लगी—हाय, मैं व्यर्थ ही संकोच में पड़ी रही और बिना ठाकुरजी के दर्शन किये चली आई। अगर मैं अन्दर चली जाती और भगवान के चरणों पर गिर पड़ती तो कोई मेरा क्या कर लेता? यही न होता, लोग मुझे धक्के देकर निकाल देते, शायद मारते भी; पर मेरा मनोरथ तो पूरा हो जाता। यदि मैं ठाकुरजी के चरणों को अपने आँसुओं से भिगो देती और बच्चे को चरणों में सुला देती, तो क्या उन्हें दया न आती? वह तो दयामय भगवान हैं, दीनों की रक्षा करते हैं; क्या मुझपर दया नहीं करते? यह सोचकर सुखिया का मन अधीर हो उठा। नहीं, अब विलम्ब करने का समय न था। वह अवश्य जायगी और ठाकुरजी के चरणों पर गिरकर रोएगी। उस अबला के आशंकित हृदय का अब इसके सिवा और कोई अवलम्ब, कोई आश्रय नहीं था। मन्दिर के द्वार बन्द होंगे तो वह तालों को तोड़ डालेगी। ठाकुरजी क्या किसी के हाथों बिक गये हैं कि कोई उन्हें बन्द कर रक्खे।

रात के तीन बज गये थे। सुखिया ने बालक को कम्बल से ढाँककर गोद में उठाया, एक हाथ में थाली उठाई और मन्दिर की ओर चली। घर से बाहर निकलते ही शीतल वायु के झोंकों से उसका कलेजा काँपने लगा। शीत से पाँव शिथिल हुए जाते थे। उसपर चारों ओर अन्धकार छाया हुआ था। रास्ता दो फरलाँग से कम न था। पगडण्डी वृक्षों के नीचे नीचे गई थी। कुछ दूर दाहिनी ओर एक पोखरा था। कुछ दूर बाँस की कोठियाँ। पोखरे में एक धोबी मर गया था और बाँस की कोठियों में चुड़ैलों का अड्डा था। बाईं ओर हरे-भरे खेत थे। चारों ओर सन-सन हो रहा था, सहसा गीदड़ों ने कर्कश स्वर से हुआँ-हुआँ करना शुरू किया। हाय! अगर उसे कोई एक लाख रुपये देता तो भी इस समय वह यहाँ न आती, पर बालक की ममता सारी शंकाओं को दबाये हुए थी। हे भगवान्! अब तुम्हारी ही आशा है।" यही जपती हुई वह मन्दिर की ओर चली जा रही थी।

मन्दिर के द्वार पर पहुँचकर सुखिया ने जञ्जीर टटोलकर देखा। ताला पड़ा हुआ था। पुजारी बरामदे से मिलती हुई कोठरी में किवाड़ बन्द किये सो रहे थे। चारों ओर अन्धेरा छाया हुआ था। सुखिया चबूतरे के नीचे से एक ईंट

उठा लाई और ज़ोर-ज़ोर से ताले पर पटकने लगी। उसके हाथों में न-जाने इतनी शक्ति कहाँ से आ गयी थी, दो ही तीन चोटों में ताला और ईंट—दोनों टूटकर चौखटपर गिर पड़े। सुखिया ने द्वार खोल दिया और अन्दर जाना ही चाहती थी कि पुजारीजी किवाड़ खोलकर हड़बड़ाये हुए बाहर निकल आये और 'चोर-चोर !' का गुल मचाते हुए गाँव की ओर दौड़े। जाड़ों में प्रायः पहर रात रहे ही लोगों की नींद खुल जाती है। यह शोर सुनते ही कई आदमी इधर-उधर से लालटेनें लिए हुए निकल पड़े और पूछने लगे—कहाँ है, कहाँ। किधर गया ?

पुजारी—मन्दिर का द्वार खुला पड़ा है। मैंने खटपटकी आवाज़ सुनी।

सहसा सुखिया बरामदे से निकलकर चबूतरे पर आई और बोली—चोर नहीं है, मैं हूँ, ठाकुरजी की पूजा करने आई थी। अभी तो अन्दर गई भी नहीं; मार हल्ला मचा दिया।

पुजारीजी ने कहा—अब अनर्थ हो गया। सुखिया मन्दिर में जाकर ठाकुरजी को भ्रष्ट कर आई।

फिर क्या था, कई आदमी झल्लाये हुए लपके और सुखिया पर लातों और घूँसों की मार पड़ने लगी। सुखिया एक हाथ से बच्चे पकड़े हुए थी और दूसरे हाथ से उसकी रक्षा कर रही थी। एकाएक एक बलिस्ठ ठाकुर ने उसे इतनी ज़ोर से धक्का दिया कि बालक उसके हाथ से छूटकर जमीन पर गिर पड़ा। मगर वह रोया न बोला, न साँस ली। सुखिया भी गिर पड़ी थी। सँभलकर बच्चे को बैठाने लगी, तो उसके मुख पर नज़र पड़ी। ऐसा जान पड़ा मानों पानी में परछाईं हो। उसके मुँह से एक चीख निकल गई। बच्चे का माथा छूकर देखा, सारी देह ठण्ढी हो गई। एक लम्बी साँस खींचकर वह उठ खड़ी हुई। उसकी आँखों में आँसू न आये। उसका मुख क्रोध की ज्वाला से तमतमा उठा, आँखों में अंगारे बरसने लगे। दोनों मुट्ठियाँ बध गईं। दाँत पीसकर बोली—पापियों, मेरे बच्चे के प्राण लेकर अब दूर क्यों खड़े हो ? मुझे भी क्यों नहीं उसी के हाथ मार डालते ? मेरे छू लेने से ठाकुरजी को छूत लग गई ! पारस को छूकर लोहा सोना हो जाता है, पारस लोहा नहीं हो जाता। मेरे छूने से ठाकुरजी अपवित्र हो जायँगे। मुझे बनाया तो छूत नहीं लगी ? लो अब कभी ठाकुरजी

को छूने नहीं आऊँगी। ताले में बन्द करके रक्खो; पहरा बैठा दो।" हाय तुम्हें दया छू भी नहीं गई! तुम इतने कठोर हो, बाल-बच्चेवाले होकर भी तुम्हें एक अभागिनी माता पर दया न आई! तिसपर धरम के ठेकेदार बनते हो। तुम सब के-सब हत्यारे हो, निपट हत्यारे हो। डरो मत, मैं थाना-पुलिस नहीं जाऊँगी; मेरा न्याय भगवान् करेंगे, अब उन्हीं के दरबार में फरियाद करूँगी। किसी ने चूँ न की, कोई मिनमिनाया तक नहीं। पाषाण मूर्तियों-की भाँति सब-के-सब सिर झुकाये खड़े रहे।

इतनी देर में सारा गाँव जमा हो गया था। सुखिया ने एक बार फिर बालक के मुँह की ओर देखा। मुँह से निकला हाय मेरे लाल! फिर वह मूर्छित होकर गिर पड़ी। प्राण निकल गये। बच्चे के लिए प्राण दे दिये। माता तू धन्य है! तुझ-जैसी निष्ठा, तुझ-जैसी श्रद्धा, तुझ-जैसा विश्वास देवताओं को भी दुर्लभ है!

ईश्वरीय न्याय

१

कानपुर जिले में पण्डित भृगुदत्त नामक एक बड़े जमींदार थे। मुंशी सत्यनारायण उनके कारिन्दा थे। वह बड़े स्वामिभक्त और सच्चरित्र मनुष्य थे। लाखों रुपये की तहसील और हजारों मन अनाज का लेन-देन उनके हाथ में था; पर कभी उनकी नीयत डाँवाडोल न होती। उनके सुप्रबन्ध से रियासत दिनों-दिन उन्नति करती जाती थी। ऐसे कर्तव्यपरायण सेवक का जितना सम्मान होना चाहिए, उससे कुछ अधिक ही होता था। दुख-सुख के प्रत्येक अवसर पर पण्डितजी उनके साथ बड़ी उदारता से पेश आते। धीरे-धीरे मुंशीजी का विश्वास इतना बढ़ा कि पण्डितजी ने हिसाब-किताब का समझना भी छोड़ दिया। सम्भव है, उनसे आजीवन इसी तरह निभ जाती, पर भावी प्रबल है। प्रयाग में कुम्भ लगा, तो पण्डितजी भी स्नान करने गये। वहाँ से लौटकर फिर वे घर न आए। मालूम नहीं किस गढ़े में फिसल पड़े या कोई जल जन्तु उन्हें खींच ले गया, उनका फिर कुछ पता ही न चला। अब मुंशी सत्यनारायण के अधिकार और भी बढ़े। एक हतभागिनी विधवा और दो छोटे-छोटे बालकों के सिवा पण्डितजी के घर में और कोई न था। अन्त्येष्टि-क्रिया से निवृत्त होकर एक दिन शोकातुर पण्डिताइन ने उन्हें बुलाया और रोकर कहा—लाला, पण्डितजी हमें मँझधार में छोड़कर सुरपुर को सिधार गए, अब यह नैया तुम्हीं पार लगाओ तो लग सकती है। यह सब खेती तुम्हारी ही लगाई हुई है, इसे तुम्हारे ही ऊपर छोड़ती हूँ। ये तुम्हारे बच्चे हैं, इन्हे अपनाओ। जब तक मालिक जिए, तुम्हें अपना भाई समझते रहे। मुझे विश्वास है कि तुम उसी तरह इस भार को सँभाले रहोगे।

सत्यनारायण ने रोते हुए जवाब दिया—भाभी, भैया क्या उठ गए, मेरे

भाग्य फूट गए, नहीं तो मुझे आदमी बना देते। मैं उन्हीं का नमक खाकर जिया हूँ, और उन्हीं की चाकरी में मरूँगा। आप धीरज रक्खें। किसी प्रकार की चिन्ता न करें। मैं जीतेजी आपकी सेवा से मुँह न मोड़ूँगा। आप केवल इतना कीजियेगा कि मैं जिस किसी की शिकायत करूँ, उसे डाँट दीजियेगा, नहीं तो ये लोग सिर चढ़ जायँगे।

२

इस घटना के बाद कई वर्षों तक मुंशीजी ने रियासत को सँभाला। वह अपने काम में बड़े कुशल थे। कभी एक कौड़ी का बल नहीं पड़ा। सारे जिले में उनका सम्मान होने लगा। लोग पण्डितजी को भूल-सा गए। दरबारों और कमेटियों में वे सम्मिलित होते, जिले के अधिकारी उन्हीं को जमींदार समझते। अन्य रईसों में भी उनका आदर था; पर मान-वृद्धि महँगी वस्तु है और भानुकुँवरि, अन्य स्त्रियों के सदृश पैसे को खूब पकड़ती थी। वह मनुष्य की मनोवृत्तियों से परिचित न थी। पण्डितजी हमेशा लालाजी को इनाम-इकराम देते रहते थे। वे जानते थे कि ज्ञान के बाद ईमान का दूसरा स्तम्भ अपनी सुदशा है। इसके सिवा वे खुद कभी कागजों की जाँच कर लिया करते थे। नाममात्र ही की सही; पर इस निगरानी का डर जरूर बना रहता था। क्योंकि ईमान का सबसे बड़ा शत्रु अवसर है। भानुकुँवरि इन बातों को जानती न थी। अतएव अवसर तथा धनाभाव-जैसे प्रबल शत्रुओं के पंजे में पड़कर मुंशीजी का ईमान कैसे बेदाग बचता।

कानपुर शहर से मिला हुआ, ठीक गंगा के किनारे, एक बहुत आबाद और उपजाऊ गाँव था। पण्डितजी इस गाँव को लेकर नदी के किनारे पक्का घाट, मन्दिर, बाग मकान आदि बनवाना चाहते थे; पर उनकी यह कामना सफल न हो सकी। संयोग से अब यह गाँव बिकने लगा। उनके जमींदार एक ठाकुर साहब थे। किसी फौजदारी के मामले में फँसे हुए थे। मुकदमा लड़ने के लिए रुपये की चाह थी। मुंशीजी ने कचहरी में यह समाचार सुना। चटपट मोल-तोल हुआ। दोनों तरफ गरज थी। सौदा पटने में देर न लगी; बैनामा लिखा गया। रजिस्ट्री हुई। रुपये मौजूद न थे; पर शहर में साख थी। एक महाजन के यहाँ से तीस हजार रुपये मँगवाये और ठाकुर साहब को नजर

किये गए। हाँ, काम-काज की आसानी के खयाल से यह सब लिखा-पढ़ी मुंशीजी ने अपने ही नाम की; क्योंकि मालिक के लड़के अभी नाबालिग थे। उनके नाम से लेने में बहुत झंझट होती और विलम्ब होने से शिकार हाथ से निकल जाता। मुंशीजी बैनामा लिए असीम आनन्द में मग्न भानुकुँवरि के पास आए। पर्दा कराया और यह शुभ समाचार सुनाया। भानुकुँवरि ने सजल नेत्रों से उनको धन्यवाद दिया। पण्डितजी के नाम पर मन्दिर और घाट बनवाने का इरादा पक्का हो गया।

मुंशीजी दूसरे ही दिन उस गाँव में आए। असामी नजराने लेकर नये स्वामी के स्वागत को हाजिर हुए। शहर के रईसों की दावत हुई। लोगों ने नावों पर बैठकर गंगा की खूब सैर की। मन्दिर आदि बनवाने के लिए आबादी से हटकर एक रमणीय स्थान चुना गया।

३

यद्यपि इस गाँव को अपने नाम से लेते समय मुंशीजी के मन में कपट का भाव न था, तथापि दो-चार दिन में ही उसका अंकुर जम गया और धीरे-धीरे बढ़ने लगा। मुंशीजी इस गाँव के आय व्यय का हिसाब अलग रखते और अपनी स्वामिनी को उसका ब्योरा समझाने की ज़रूरत न समझते। भानुकुँवरि इन बातों में दखल देना उचित न समझती थी; पर दूसरे कारिन्दों से सब बातें सुन-सुनकर उसे शंका होती थी कि कहीं मुंशीजी दगा तो न देंगे। अपने मन का भाव मुंशीजी से छिपाती थी, इस खयाल से कि कहीं कारिन्दों ने उन्हें हानि पहुँचाने के लिए यह षड्यन्त्र न रचा हो।

इस तरह कई साल गुजर गए। अब उस कपट के अंकुर ने वृक्ष का रूप धारण किया। भानुकुँवरि को मुंशीजी के उस भाव के लक्षण दिखाई देने लगे। उधर मुंशीजी के मन ने कानून के नीति पर विजय पाई, उन्होंने अपने मन में फैसला किया कि गाँव मेरा है। हाँ, मैं भानुकुँवरि का तीस हजार का ऋणी अवश्य हूँ। वे बहुत करेंगी तो अपने रुपये ले लेंगी और क्या कर सकती हैं? मगर दोनों तरफ यह आग अन्दर-ही-अन्दर सुलगती रही। मुंशीजी शस्त्र-सज्जित होकर आक्रमण के इन्तजार में थे और भानुकुँवरि इसके लिए अच्छा अवसर ढूँढ़ रही थीं। एक दिन उसने साहस करके मुन्शीजी को अन्दर बुलाया और

कहा—लालाजी, 'बरगदा' के मन्दिर का काम कब से लगवाइएगा ? उसे लिए आठ साल हो गए, अब काम लग जाय, तो अच्छा हो। जिन्दगी का कौन ठिकाना, जो काम करना है, उसे कर ही डालना चाहिए।

इस ढंग से इस विषय को उठाकर भानुकुँवरि ने अपनी चतुराई का अच्छा परिचय दिया। मुन्शीजी भी दिल में इसके कायल हो गए। जरा सोचकर बोले—इरादा तो मेरा कई बार हुआ ; पर मौके की जमीन नहीं मिलती। गंगा-तट की जमीन असामियों के जोत में है और वे किसी तरह छोड़ने पर राजी नहीं।

भानुकुँवरि—यह बात तो आज मुझे मालूम हुई। आठ साल हुए, इस गाँव के विषय में आपने कभी भूलकर भी तो चर्चा नहीं की। मालूम नहीं कितनी तहसील है, क्या मुनाफा है, कैसा गाँव है, कुछ सीर होती है या नहीं। जो कुछ करते हैं, आप ही करते हैं और करेंगे ; पर मुझे भी तो मालूम होना चाहिये।

मुंशीजी सँभल बैठे। उन्हें मालूम हो गया कि इस चतुर स्त्री से बाजी ले जाना मुश्किल है। गाँव लेना ही है तो अब क्या डर। खुलकर बोले—आपको इससे कोई सरोकार न था; इसलिये मैंने व्यर्थ कष्ट देना मुनासिब न समझा।

भानुकुँवरि के हृदय में कुठार-सा लगा। पर्दे से निकल आई और मुंशीजी की तरफ तेज आँखों से देखकर बोली, आप यह क्या कहते हैं ! आपने गाँव मेरे लिए लिया था, या अपने लिए ? रुपए मैंने दिए, या आपने ? उस पर जो खर्च पड़ा, वह मेरा था, या अपका ? मेरी समझ में नहीं आता कि आप कैसी बातें करते हैं !

मुंशीजी ने सावधानी से जवाब दिया—यह तो आप जानतीं ही हैं कि गाँव हमारे नाम से बै हुआ है। रुपया जरूर आपका लगा ; पर उसका मैं देनदार हूँ। रहा तहसील-वसूली का खर्च ; यह सब मैंने अपने पास से किया है। उसका हिसाब-किताब, आय व्यय सब रखता गया हूँ।

भानुकुँवरि ने क्रोध से काँपते हुए कहा—इस कपट का फल आपको अवश्य मिलेगा। आप इस निर्दयता से मेरे बच्चों का गला नहीं काट सकते। मुझे नहीं मालूम था कि आपने हृदय में छुरी छिपा रक्खी है, नहीं तो यह नौबत ही क्यों आती खैर, अब से मेरी रोकड़ और बहीखाता आप कुछ न छुएँ। मेरा जो कुछ होगा, ले लूँगी। जाइए, एकान्त में बैठकर सोचिए। पाप से किसी का भला

नहीं होता। तुम समझते होगे कि ये बालक अनाथ हैं, इनकी सम्पत्ति हजम कर लूँगा। इस भूल में न रहना। मैं तुम्हारे घर की ईंट तक बिकवा लूँगी'!

यह कहकर भानुकुँवरि फिर पर्दे की आड़ में आ बैठी और रोने लगी। स्त्रियाँ क्रोध के बाद किसी-न-किसी बहाने रोया करती हैं। लाला साहब को कोई जवाब न सूझा। वहाँ से उठ आए और दफ्तर आकर कागज उलट-पलट करने लगे; पर भानुकुँवरि भी उनके पीछे-पीछे दफ्तर में पहुँची और डाँटकर बोली—मेरा कोई कागज मत छूना नहीं तो बुरा होगा। तुम विषैले साँप हो, मैं तुम्हारा मुँह नहीं देखना चाहती।

मुंशीजी कागजों में कुछ काट छाँट करना चाहते थे; पर विवश हो गए। ख़ज़ाने की कुञ्जी निकाल कर फेंक दी, बही-खाते पटक दिए, किवाड़ धड़ाके से बन्द किए और हवा की तरह सन्न से निकल गए। कपट में हाथ तो डाला; पर कपट-मन्त्र न जाना।

दूसरे कारिन्दों ने यह कैफियत सुनी, तो फूले न समाए। मुंशीजी के सामने उसकी दाल न गलने पाती थी। भानुकुँवरि के पास आकर वे आग पर तेल छिड़कने लगे। सब लोग इस विषय में सहमत थे कि मुंशी सत्यनारायण ने विश्वास-घात किया है। मालिक का नमक उनकी हड्डियों से फूट-फूटकर निकलेगा।

दोनों ओर से मुकदमेबाजी की तैयारियाँ होने लगीं। एक तरफ न्याय का शरीर था, दूसरी ओर न्याय की आत्मा। प्रकृति का पुरुष से लड़ने का साहस हुआ।

भानुकुँवरि ने लाला छक्कनलाल से पूछा—हमारा वकील कौन है? छक्कनलाल ने इधर-उधर झाँककर कहा—वकील तो सेठजी हैं; पर सत्यनारायण ने उन्हें पहले ही गाँठ रखा होगा। इस मुकदमे के लिए बड़े होशियार वकील की ज़रूरत है। मेहरा बाबू की आजकल खूब चल रही है। हाकिमों की क़लम पकड़ लेते हैं। बोलते हैं तो जैसे मोटरकार छूट जाती है। सरकार! और क्या कहें, कई आदमियों को फाँसी से उतार लिया है, उनके सामने कोई वकील जबान तो खोल नहीं सकता। सरकार कहें तो वही कर लिये जायँ।

छक्कनलाल की अत्युक्ति ने सन्देह पैदा कर दिया। भानुकुँवरि ने कहा—नहीं, पहले सेठजी से पूछ लिया जाय। इसके बाद देखा जायगा। आप जाइए, उन्हें बुला लाइए

छक्कनलाल अपनी तक़दीर को ठोकते हुए सेठजी के पास गये। सेठजी पण्डित भृगुदत्त के जीवन-काल से ही उनका क़ानून-सम्बन्धी सब काम किया करते थे। मुक़दमे का हाल सुना तो सन्नाटे में आ गये। सत्यनारायण को वह बड़ा नेकनीयत आदमी समझते थे। उनके पतन पर बड़ा खेद हुआ। उसी वक़्त आये। भानुकुँवरि ने रो-रोकर उनसे अपनी विपत्ति की कथा कही और अपने दोनों लड़कों को उनके सामने खड़ा करके बोली—आप इन अनाथों की रक्षा कीजिए। इन्हें मैं आपको सौंपती हूँ।

सेठजी ने समझौते की बात छेड़ी। बोले—आपस की लड़ाई अच्छी नहीं।

भानुकुँवरि- अन्यायी के साथ लड़ना ही अच्छा है।

सेठजी—पर हमारा पक्ष निर्बल है।

भानुकुँवरि फिर पर्दे से निकल आई और विस्मित होकर बोली—क्या हमारा पक्ष निर्बल है? दुनिया जानती है कि गाँव हमारा है। उसे हमसे कौन ले सकता है? नहीं, मैं सुलह कभी न करूँगी, आप काग़जों को देखें। मेरे बच्चों की खातिर यह कष्ट उठायें। आपका परिश्रम निष्फल न जायगा। सत्यनारायण की नीयत पहले खराब न थी। देखिए, जिस मिति में गाँव लिया गया है, उस मिति में ३० हज़ार का क्या खर्च दिखाया गया है! अगर उसने अपने नाम उधार लिखा हो, तो देखिए, वार्षिक सूद चुकाया गया या नहीं। ऐसे नर-पिशाच से मैं कभी सुलह न करूँगी।

सेठजी ने समझ लिया कि इस समय समझाने बुझाने से कुछ काम न चलेगा। काग़जात देखे, अभियोग चलाने की तैयारियाँ होने लगीं।

४

मुंशी सत्यनारायणलाल खिसियाये हुए मकान पहुँचे। लड़के ने मिठाई माँगी। उसे पीटा। स्त्री पर इसलिए बरस पड़े कि उसने क्यों लड़के को उनके पास जाने दिया। अपनी वृद्धा माता को डाँटकर कहा—तुमसे इतना भी नहीं हो सकता कि जरा लड़के को बहलाओ। एक तो मैं दिन-भर का थका-माँदा घर आऊँ और फिर लड़के को खेलाऊँ? मुझे दुनिया में न और कोई काम है, न धंधा। इस तरह घर में बावेला मचाकर वह बाहर आये सोचने लगे—मुझसे बड़ी भूल हुई। मैं कैसा मूर्ख हूँ! और इतने दिन तक सारे काग़ज पत्र अपने

हाथ में थे। जो चाहता, कर सकता था ; पर हाथ-पर-हाथ धरे बैठा रहा। आज सिर पर आ पड़ी तो सूझी। मैं चाहता तो बहीखाते सब नये बना सकता था, जिसमें इस गाँव का और रुपये का जिक्र ही न होता ; पर मेरी मूर्खता के कारण घर में आयी हुई लक्ष्मी रूठी जाती है। मुझे क्या मालूम था कि वह चुड़ैल मुझसे इस तरह पेश आयेगी, काग़ज़ों में हाथ तक न लगाने देगी।

इसी उधेड़बुन में मुंशीजी एकाएक उछल पड़े। एक उपाय सूझ गया—क्यों न कार्यकर्ताओं को मिला लूँ ? यद्यपि मेरी सख्ती के कारण वे सब मुझसे नाराज थे और इस समय सीधे बात भी न करेंगे तथापि उनमें ऐसा कोई भी नहीं जो प्रलोभन से मुट्ठी में न आ जाय। हाँ, इसमें रुपया पानी की तरह बहाना पड़ेगा, पर इतना रुपया आयेगा कहाँ से ? हाय दुर्भाग्य ! दो चार दिन पहले चेत गया होता, तो कोई कठिनाई न पड़ती। क्या जानता था कि वह डाइन इस तरह वज्र-प्रहार करेगी। बस, अब एक ही उपाय है। किसी तरह कागजात गुम कर दूँ। बड़ी जोखिम का काम है। पर करना ही पड़ेगा।

दुष्कामनाओं के सामने एक बार सिर झुकाने पर, फिर सँभलना कठिन हो जाता है। पाप के अथाह दलदल में जहाँ एक बार पड़े कि फिर प्रतिक्षण नीचे ही चले जाते हैं। मुंशी सत्यनारायण-सा विचारशील मनुष्य इस समय इस फिक्र में था कि कैसे सेंध लगा पाऊँ !

मुंशीजी ने सोचा—क्या सेंध लगाना आसान है ? इसके वास्ते कितनी चतुरता, कितना साहस, कितनी बुद्धि, कितनी वीरता चाहिए ! कौन कहता है कि चोरी करना आसान काम है ? मैं जो कहीं पकड़ा गया, तो मरने के सिवा और कोई मार्ग ही न रहेगा।

बहुत सोचने विचारने पर भी मुंशीजी को अपने ऊपर ऐसा दुःसाहस कर सकने का विश्वास न हो सका। हाँ, इससे सुगम एक दूसरी तदबीर नज़र आई—क्यों न दफ्तर में आग लगा दूँ। एक बोतल मिट्टी का तेल और एक दियासलाई की जरूरत है। किसी बदमाश को मिला लूँ ; मगर यह क्या मालूम कि वह वही कमरे में रखी है या नहीं ! चुड़ैल ने उसे ज़रूर अपने पास रख लिया होगा। नहीं, आग लगाना गुनाह बे-लज्जत होगा।

बहुत देर तक मुंशीजी करवटें बदलते रहे। नये-नये मनसूबे सोचते ; पर

फिर अपने ही तर्कों से काट देते। वर्षाकाल में बादलों की नयी-नयी सूरतें बनतीं और फिर हवा के वेग से बिगड़ जाती हैं, वही दशा उस समय उनके मनसूबों की हो रही थी।

पर इस मानसिक अशान्ति में भी एक विचार पूर्ण रूप से स्थिर था—किसी तरह इन काग़ज़ातों को अपने हाथ में लाना चाहिए। काम कठिन है—माना! पर हिम्मत न थी, तो रार क्यों मोल ली? क्या ३० हजार की जायदाद दाल-भात का कौर है!—चाहे जिस तरह हो, चोर बने बिना काम नहीं चल सकता। आखिर जो लोग चोरियाँ करते हैं, वे भी तो मनुष्य ही होते हैं। बस, एक छलाँग का काम है। अगर पार हो गये, तो राज करेंगे, गिर पड़े तो जान से हाथ धोयेंगे।

५

रात के दस बज गये। मुंशी सत्यनारायण कुञ्जियों का एक गुच्छा कमर में दबाये घर से बाहर निकले। द्वार पर थोड़ा-सा पुआल रखा हुआ था। उसे देखते ही वे चौंक पड़े। मारे डर के छाती धड़कने लगी। जान पड़ा कि कोई छिपा बैठा है। कदम रुक गये। पुआल की तरफ ध्यान से देखा। उसमें बिलकुल हरक़त न हुई। तब हिम्मत बाँधी, आगे बढ़े और मन को समझाने लगे—मैं कैसा बौखला हूँ!

अपने द्वार पर किसको डर और सड़क पर भी मुझे किसका डर है! मैं अपनी राह जाता हूँ। कोई मेरी तरफ तिरछी आँख से नहीं देख सकता। हाँ, जब मुझे सेंध लगाते देख ले—नहीं पकड़ ले—तब अलबत्ते डरने की बात है। तिसपर भी बचाव की युक्ति निकल सकती है।

अकस्मात उन्होंने भानुकुँवरि के एक चपरासी को आते हुए देखा। कलेजा धड़क उठा। लपककर एक अन्धेरी गली में घुस गये। बड़ी देर तक वहाँ खड़े रहे। जब वह सिपाही आँखों से ओझल हो गया, तब फिर सड़क पर आये। वह सिपाही आज सुबह तक इनका गुलाम था, उसे इन्होंने कितनी ही बार गालियाँ दी थीं, लातें भी मारी थीं; पर आज उसे देखकर उनके प्राण सूख गये।

उन्होंने फिर तर्क की शरण ली। मैं मानों भंग खाकर आया हूँ। इस चपरासी से इतना डरा। माना कि वह मुझे देख लेता, पर मेरा कर क्या सकता

था। हजारों आदमी रास्ता चल रहे हैं। उन्हीं में मैं भी एक हूँ। क्या वह अन्तर्यामी है? सबके हृदय का हाल जानता है? मुझे देखकर वह अदब से सलाम करता और वहाँ का कुछ हाल भी कहता; पर मैं उससे ऐसा डरा कि सूरत तक न दिखाई। इस तरह मन को समझाकर वे आगे बढ़े। सच है, पाप के पंजों में फँसा हुआ मन पतझड़ का पत्ता है, जो हवा के जरा-से झोंके से गिर पड़ता है।

मुंशीजी बाजार पहुँचे। अधिकतर दुकानें बन्द हो चुकी थीं। उनमें साँड़ और गायें बैठी हुई जुगाली कर रही थीं। केवल हलवाइयों की दुकानें खुली थीं और कहीं-कहीं गजरेवाले हार की हाँक लगाते फिरते थे। सब हलवाई मुंशीजी को पहचानते थे; अतएव मुंशीजी ने सिर झुका लिया। कुछ चाल बदली और लपकते हुए चले। एकाएक उन्हें एक बग्घी आती दिखाई दी। यह सेठ बल्लभदास वकील की बग्घी थी। इसमें बैठकर हजारों बार सेठजी के साथ कचहरी गये थे; पर आज वह बग्घी कालदेव के समान भयंकर मालूम हुई। फ़ौरन एक खाली दुकान पर चढ़ गये। वहाँ विश्राम करनेवाले साँड़ ने समझा, ये मुझे पदच्युत करने आये हैं। माथा झुकाये, फुंकारता हुआ उठ बैठा, पर इसी बीच में बग्घी निकल गई और मुंशीजी की जान-में-जान आई। अबकी उन्होंने तर्क का आश्रय न लिया। समझ गये कि इस समय इससे कोई लाभ नहीं, खैरियत यह हुई कि वकील ने देखा नहीं। वह एक घाघ है। मेरे चेहरे से ताड़ जाता।

कुछ विद्वानों का कथन है कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति पाप की ओर होती है; पर यह कोरा अनुमान ही अनुमान है, अनुभव-सिद्ध बात नहीं। सच बात तो यह है कि मनुष्य स्वभावतः पापभीरु होता है और हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि पाप से उसे कैसी घृणा होती है।

एक फ़र्लांग आगे चलकर मुंशीजी को एक गली मिली। यह भानकुँवर के घर का रास्ता था। धुँधली-सी लालटेन जल रही थी। जैसे मुंशीजी ने अनुमान किया था, पहरेदार का पता न था। अस्तबल में चमारों के यहाँ नाच हो रहा था। कई चमारिनें बनाव-सिंगार करके नाच रही थीं। चमार मृदंग बजा-बजाकर गाते थे—

"नाहीं घरे स्याम, घेरि आये बदरा,
सोवत रहेउँ सपन एक देखेउँ रामा,
खुलि गई नींद ढरक गये कजरा।
नाहीं घरे स्याम घेरि आये बदरा।"

दोनों पहरेदार वहीं तमाशा देख रहे थे। मुंशीजी दबे-पाँव लालटेन के पास गये, और जिस तरह बिल्ली चूहे पर झपटती है उसी तरह उन्होंने झपटकर लालटेन को बुझा दिया। एक पड़ाव पूरा हो गया, पर वे उस कार्य को जितना दुष्कर समझते थे, उतना न जान पड़ा। हृदय कुछ मज़बूत हुआ। दफ्तर के बरामदे में पहुँचे और खूब कान लगाकर आहट ली। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। केवल चमारों का कोलाहल सुनाई देता था। इस समय मुंशीजी के दिल में धड़का न था, पर सिर धमधम कर रहा था; हाथ-पाँव काँप रहे थे, साँस बड़े वेग से चल रही थी। शरीर का एक-एक रोम आँख और कान बना हुआ था। वे सजीवता की मूर्ति हो रहे थे। उनमें जितना पौरुष, जितनी चपलता, जितना साहस, जितनी चेतना, जितनी बुद्धि, जितना औसान था, वे सब इस वक्त सजग और सचेत होकर इच्छाशक्ति की सहायता कर रहे थे।

दफ्तर के दरवाजे पर वही पुराना ताला लगा हुआ था। इसकी कुञ्जी आज बहुत तलाश करके वे बाज़ार से लाये थे। ताला खुल गया, किवाड़ों ने बहुत दबी ज़बान से प्रतिरोध किया। इसपर किसी ने ध्यान न दिया। मुंशीजी दफ्तर में दाखिल हुए। भीतर चिराग जल रहा था। मुंशीजी को देखकर उसने एक दफे सिर हिलाया। मानो उन्हें भीतर आने से रोका।

मुंशीजी के पैर थर-थर काँप रहे थे। एड़ियाँ ज़मीन से उछली पड़ती थीं। पाप का बोझ उन्हें असह्य था।

पलभर में मुंशीजी ने बहियों को उलटा-पलटा। लिखावट, उनकी आँखों में तैर रही थी। इतना अवकाश कहाँ था कि ज़रूरी काग़ज़ात छाँट लेते। उन्होंने सारी बहियों को समेट कर एक बड़ा गट्ठर बनाया और सिर पर रखकर तीर के समान कमरे के बाहर निकल आये। उस पाप की गठरी को लादे हुए वह अँधेरी गली से गायब हो गये।

तंग, अँधेरी, दुर्गन्धिपूर्ण, कीचड़ से भरी हुई गलियों में वे नंगे पाँव स्वार्थ,

लोभ और कपट का बोझ लिये चले जाते थे। मानो पापमय आत्मा नरक की नालियों में बही चली जाती थी।

बहुत दूर तक भटकने के बाद वे गंगा के किनारे पहुँचे। जिस तरह कलुषित हृदयों में कहीं-कहीं धर्म का धुँधला प्रकाश रहता है, उसी तरह नदी की काली सतह पर तारे झिलमिला रहे थे। तट पर कई साधु धूनी रमाये पड़े थे। ज्ञान की ज्वाला मन की जगह बाहर दहक रही थी। मुंशीजी ने अपना गट्ठर उतारा और चादर से खूब मजबूत बाँधकर बलपूर्वक नदी में फेंक दिया। सोती हुई लहरों में कुछ हलचल हुई और फिर सन्नाटा हो गया।

६

मुंशी सत्यनारायणलाल के घर में दो स्त्रियाँ थीं—माता और पत्नी; वे दोनों अशिक्षिता थीं। तिसपर भी मुन्शीजी को गंगा में डूब मरने या कहीं भाग जाने की जरूरत न होती थी। न वे बाड़ी पहनती थीं, न मोजे-जूते, न हारमोनियम पर गा सकती थीं यहाँ तक कि उन्हें साबुन लगाना भी न आता था। हेयरपिन, ब्रूचेज, लाकेट आदि परमावश्यक चीज़ों का तो उन्होंने नाम भी नहीं सुना था। बहू में आत्मसम्मान ज़रा भी नहीं था; न सास से आत्मगौरव का जोश। बहू अब तक सास की घुड़कियाँ भीगी बिल्ली की तरह सह लेती थी—हा मूर्खे! सास को बच्चे के नहलाने धुलाने, यहाँ तक कि घर में झाड़ू देने से भी घृणा न थी, हा ज्ञानान्धे! बहू स्त्री क्या थी, मिट्टी का लोंदा थी। एक पैसे की ज़रूरत होती तो सास से माँगती। सारांश यह कि दोनों स्त्रियाँ अपने अधिकारों से बेखबर, अन्धकार में पड़ी हुई पशुवत् जीवन व्यतीत करती थीं। ऐसी फूहड़ थीं कि रोटियाँ भी अपने हाथ से बना लेती थीं। कंजूसी के मारे दालमोट, समोसे कभी बाज़ार से न मँगातीं। आगरेवाले की दूकान की चीजें खाई होतीं, तो उनका मज़ा जानतीं। बुढ़िया खूसट दवा-दरपन भी जानती थी। बैठी-बैठी घास-पात कूटा करती।

मुंशीजी ने माँ के पास जाकर कहा—अम्माँ! अब क्या होगा? भानकुँवरि ने मुझे जवाब दे दिया!

माता ने घबराकर पूछा—जवाब दे दिया!

मुंशी—हाँ, बिलकुल बेकसूर!

माता—क्या बात हुई ? भानकुँवरि का मिज़ाज तो ऐसा न था।

मुंशी—बात कुछ न थी। मैंने अपने नाम से जो गाँव लिया था, उसे मैंने अपने अधिकार में कर लिया। कल मुझसे और उनसे साफ़-साफ़ बातें हुईं। मैंने कह दिया कि वह गाँव मेरा है। मैंने अपने नाम से लिया है। उसमें तुम्हारा कोई इजारा नहीं। बस, बिगड़ गईं, जो मुँह में आया, बकती रहीं। उसी वक्त मुझे निकाल दिया और धमकाकर कहा—मैं तुमसे लड़कर अपना गाँव ले लूँगी। अब आज ही उनकी तरफ़ से मेरे ऊपर मुकदमा दायर होगा; मगर इससे होता क्या है ? गाँव मेरा है। उसपर मेरा कब्जा है। एक नहीं, हजार मुक़दमे चलायें, डिगरी मेरी होगी।

माता ने बहू की तरफ़ मर्मान्तक दृष्टि से देखा और बोली—क्यों भैया ! वह गाँव लिया तो था तुमने उन्हींके रुपये से और उन्हींके वास्ते ?

मुंशी—लिया था, तब लिया था। अब मुझसे ऐसा आबाद और मालदार गाँव नहीं छोड़ा जाता। वह मेरा कुछ नहीं कर सकतीं। मुझसे अपना रुपया भी नहीं ले सकतीं। डेढ़-सौ गाँव तो हैं। तब भी हवस नहीं मानती।

माता—बेटा, किसी के धन ज्यादा होता है, तो वह उसे फेंक थोड़े ही देता है। तुमने अपनी नीयत बिगाड़ी, यह अच्छा काम नहीं किया। दुनिया तुम्हें क्या कहेगी और दुनिया चाहे कहे या न कहे, तुमको भला ऐसा चाहिए कि जिसकी गोद में इतने दिन पले, जिसका इतने दिनों तक नमक खाया, अब उसीसे दग़ा करो। नारायण ने तुम्हें क्या नहीं दिया ? मज़े से खाते हो, पहनते हो, घर में नारायण का दिया चार पैसा है, बाल-बच्चे हैं और क्या चाहिए ? मेरा कहना मानो, इस कलंक का टीका अपने माथे न लगाओ। यह अपजस मत लो। बरक्कत अपनी कमाई में होती है; हराम की कौड़ी कभी नहीं फलती।

मुंशी—ऊँह ! ऐसी बातें बहुत सुन चुका हूँ। दुनिया उन पर चलने लगे, तो सारे काम बन्द हो जायँ ! मैंने इतने दिनों इनकी सेवा की, मेरी ही बदौलत ऐसे ऐसे चार पाँच गाँव बढ़ गये। जब तक पण्डितजी थे, मेरी नीयत का मान था। मुझे आँख में धूल डालने की जरूरत न थी, वे आप ही मेरी खातिर कर दिया करते थे। उन्हें मरे आठ साल हो गये; मगर मुसम्मात के एक बीड़े पान की क़सम खाता हूँ; मेरी जात से उनको हजारों रुपये मासिक की बचत होती थी।

क्या उनको इतनी भी समझ न थी कि यह बेचारा जो इतनी ईमानदारी से मेरा काम करता है, इस नफे में कुछ उसे भी मिलना चाहिए? हक कहकर न दो, इनाम कहकर दो, किसी तरह दो तो, मगर वे तो समझती थीं कि मैंने इसे बीस रुपये महीने पर मोल ले लिया है। मैंने आठ साल तक सब्र किया, अब क्या इसी बीस रुपये में गुलामी करता रहूँ और अपने बच्चों को दूसरों का मुँह ताकने के लिए छोड़ जाऊँ? अब मुझे यह अवसर मिला है। इसे क्यों छोड़ूँ? ज़मींदार की लालसा लिये हुए क्यों मरूँ? जब तक जीऊँगा, खुद खाऊँगा। मेरे पीछे मेरे बच्चे चैन उड़ायेंगे।

माता की आँखों में आँसू भर आये। बोली—बेटा, मैंने तुम्हारे मुँह से ऐसी बातें कभी न सुनी थीं। तुम्हें क्या हो गया है? तुम्हारे आगे बाल-बच्चे हैं। आग में हाथ न डालो।

बहू ने सास की ओर देखकर कहा—हमको ऐसा धन न चाहिए, हम अपनी दाल-रोटी में मगन हैं।

मुंशी—अच्छी बात है, तुम लोग रोटी-दाल खाना, गजी-गाढ़ा पहनना, मुझे अब हलुवे-पूरी की इच्छा है।

माता—यह अधर्म मुझसे न देखा जायगा। मैं गंगा में डूब मरूँगी।

पत्नी—तुम्हें ये सब काँटा बोना है, तो मुझे मायके पहुँचा दो। मैं अपने बच्चों को लेकर इस घर में न रहूँगी।

मुंशी ने झुँझलाकर कहा—तुम लोगों की बुद्धि तो भाँग खा गई है। लाखों सरकारी नौकर रात-दिन दूसरों का गला दबा-दबाकर रिश्वतें लेते हैं और चैन करते हैं। न उनके बाल-बच्चों ही को कुछ होता है, न उन्हीं को हैजा पकड़ता है। अधर्म उनको क्यों नहीं खा जाता, जो मुझी को खा जायगा। मैंने तो सत्यवादियों को सदा दुःख झेलते ही देखा है। मैंने जो कुछ किया है, उसका सुख लूटूँगा! तुम्हारे मन में जो आवे, करो।

प्रातःकाल दफ्तर खुला तो काग़ज़ात सब गायब थे। मुंशी छक्कनलाल बौखलाये-से घर में गये और मालकिन से पूछा—

काग़ज़ात आपने उठवा लिये हैं? भानुकुँवरि ने कहा—मुझे क्या ख़बर, जहाँ आपने रखे होंगे, वहीं होंगे। फिर तो सारे घर में खलबली पड़ गई। पहरे-

दारों पर मार पड़ने लगी। भानुकुँवरि को तुरंत मुंशी सत्यनारायण पर संदेह हुआ, मगर उनकी समझ में छक्कनलाल की सहायता के बिना यह काम होना असंभव था। पुलिस में रपट हुई। एक ओझा नाम निकालने के लिए बुलाया गया। मौलवी साहब ने कुर्रा फेंका। ओझा ने बताया, यह किसी पुराने बैरी का काम है। मौलवी साहब ने फर्माया, किसी घर के भेदिये ने यह हरकत की है। शाम तक यह दौड़-धूप रही। फिर यह सलाह होने लगी कि इन काग़ज़ात के बग़ैर मुक़दमा कैसे चलेगा। पक्ष तो पहले निर्बल ही था। जो कुछ बल था, वह इसी बही खाते का था। अब तो वे सबूत भी हाथ से गये। दावे में कुछ जान ही न रही, मगर भानुकुँवरि ने कहा—बला से हार जायँगे। हमारी चीज़ कोई छीन ले, तो हमारा धर्म है कि उससे यथाशक्ति लड़ें, हारकर बैठ रहना कायरों का काम है। सेठजी (वकील) को इस दुर्घटना का समाचार मिला, तो उन्होंने भी यही कहा कि अब दावे में जरा भी जान नहीं है। केवल अनुमान और तर्क का भरोसा है। अदालत ने माना तो माना; नहीं तो हार माननी पड़ेगी; पर भानुकुँवरि ने एक न मानी। लखनऊ और इलाहाबाद से दो होशियार बैरिस्टर बुलाये। मुक़दमा शुरू हो गया।

सारे शहर में इस मुक़दमे की धूम थी। कितने ही रईसों को भानुकुँवरि ने साथी बनाया था। मुक़दमा शुरू होने के समय हज़ारों आदमियों की भीड़ हो जाती थी। लोगों के इस खिंचाव का मुख्य कारण यह था भानुकुँवरि एक पर्दे की आड़ में बैठी हुई अदालत की कार्रवाई देखा करती थी। क्योंकि उसे अब अपने नौकरों पर ज़रा भी विश्वास न था।

वादी बैरिस्टर ने एक बड़ी मार्मिक वक्तृता दी। उसने सत्यनारायण की पूर्वावस्था का खूब अच्छा चित्र खींचा। उसने दिखलाया कि वे कैसे स्वामिभक्त, कैसे कार्य-कुशल, कैसे कर्म-शील थे और स्वर्गवासी पण्डित भृगुदत्त का उनपर पूर्ण विश्वास हो जाना किस तरह स्वाभाविक था। इसके बाद उसने सिद्ध किया कि मुंशी सत्यनारायण की आर्थिक अवस्था कभी ऐसी न थी कि वे इतना धन संचय करते। अन्त में उसने मुंशीजी की स्वार्थपरता, कूटनीति, निर्दयता और विश्वासघातकता का ऐसा घृणोत्पादक चित्र खींचा कि लोग मुंशीजी को गालियाँ देने लगे। इसके साथ ही उसने पण्डितजी के अनाथ बालकों की दशा का बड़ा

ही करुणोत्पादक वर्णन किया—कैसे शोक और लज्जा की बात है कि ऐसा चरित्रवान्, ऐसा नीतिकुशल मनुष्य इतना गिर जाय कि अपने स्वामी के अनाथ बालकों की गर्दन पर छुरी चलाने में संकोच न करे। मानव-पतन का ऐसा करुण, ऐसा हृदयविदारक उदाहरण मिलना कठिन है, इस कुटिल कार्य के परिणाम की दृष्टि से इस मनुष्य के पूर्व-परिचित सद्गुणों का गौरव लुप्त हो जाता है। क्योंकि वह असली मोती नहीं, नकली काँच के दाने थे, जो केवल विश्वास जमाने के निमित्त दर्शाये गये थे। वह केवल सुन्दर जाल था जो एक सरल हृदय और छल-छन्दों से दूर रहनेवाले रईस को फँसाने के लिए फैलाया गया था। इस नर-पशु का अन्तःकरण कितना अन्धकारमय, कितना कपटपूर्ण, कितना कठोर है और इसकी दुष्टता कितनी घोर और कितनी अपावन है। अपने शत्रु के साथ दगा करना तो एक बार क्षम्य है; मगर इस मलिनहृदय मनुष्य ने उन बेकसों के साथ दग़ा किया है, जिनपर मानव-स्वभाव के अनुसार दया करना उचित है। यदि आज हमारे पास बही खाते मौजूद होते, तो अदालत पर सत्यनारायण की सत्यता स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाती; पर मुंशीजी के बरखास्त होते ही दफ्तर से उनका लुप्त हो जाना भी अदालत के लिए एक बड़ा सबूत है।

शहर के कई रईसों ने गवाही दी; पर सुनी-सुनाई बातें जिरह में उखड़ गईं।

दूसरे दिन फिर मुकदमा पेश हुआ।

प्रतिवादी के वकील ने अपनी वक्तृता शुरू की। उसमें गंभीर विचारों की अपेक्षा हास्य का आधिक्य था—'यह एक विलक्षण न्यायसिद्धान्त है कि किसी धनाढ्य मनुष्य का नौकर जो कुछ खरीदे, वह उसके स्वामी की चीज़ समझी जाय। इस सिद्धांत के अनुसार हमारी गवर्नमेंट को अपने कर्मचारियों की सारी संपत्ति पर कब्ज़ा कर लेना चाहिए! यह स्वीकार करने में हमको आपत्ति नहीं कि हम इतने रुपयों का प्रबन्ध न कर सकते थे और यह धन हमने स्वामी ही से ऋण लिया; पर हमसे ऋण चुकाने का कोई तक़ाज़ा न करके वह जायदाद ही माँगी जाती है। यदि हिसाब के काग़ज़ात दिखलाये जायँ, तो वे साफ़ बता देंगे कि मैं सारा ऋण दे चुका। हमारे मित्र ने कहा है कि ऐसी अवस्था में बहियों का गुम हो जाना अदालत के लिए एक सबूत होना चाहिए। मैं भी उनकी युक्ति का

समर्थन करता हूँ। यदि मैं आप से ऋण लेकर अपना विवाह करूँ, तो क्या आप मुझसे मेरी नव-विवाहिता बधू को छीन लेंगे?

"हमारे सुयोग्य मित्र ने हमारे ऊपर अनाथों के साथ दग़ा करने का दोष लगाया है। अगर मुंशी सत्यनारायण की नीयत खराब होती, तो उनके लिए सबसे अच्छा अवसर वह था जब पण्डित भृगुदत्त का स्वर्गवास हुआ। इतने विलंब की क्या ज़रूरत थी? यदि आप शेर को फँसाकर उसके बच्चे को उसी वक्त नहीं पकड़ लेते, उसे बढ़ने और सबल होने का अवसर देते हैं तो मैं आपको बुद्धिमान न कहूँगा। यथार्थ बात यह है कि मुंशी सत्यनारायण ने नमक का जो कुछ हक था, वह पूरा कर दिया। आठ वर्ष तक तन-मन से स्वामी-सन्तान की सेवा की। आज उन्हें अपनी साधुता का जो फल मिल रहा है, वह बहुत ही दुःखजनक और हृदय-विदारक है। इसमें भानुकुँवरि का दोष नहीं। वे एक गुण-सम्पन्ना महिला हैं; मगर अपनी जाति के अवगुण उनमें भी विद्यमान हैं! ईमानदार मनुष्य स्वभावतः स्पष्टभाषी होता है, उसे अपनी बातों में नमक-मिर्च लगाने की ज़रूरत नहीं होती। यही कारण है कि मुन्शीजी के मृदुभाषी मातहतों को उन पर आक्षेप करने का मौका मिल गया। इस दावे की जड़ केवल इतनी ही है, और कुछ नहीं। भानुकुँवरि यहाँ उपस्थित हैं। क्या वे कह सकती हैं कि इस आठ वर्ष की मुद्दत में कभी इस गाँव का जिक्र उनके सामने आया? कभी उसके हानि लाभ, आय-व्यय, लेन-देन की चर्चा उनसे की गई? मान लीजिए कि मैं गवर्नमेंट का मुलाजिम हूँ। यदि मैं आज दफ्तर में आकर अपनी पत्नी के आय-व्यय और अपने टहलुओं के टैक्सों का पचड़ा गाने लगूँ तो शायद मुझे शीघ्र ही अपने पद से पृथक् होना पड़े और सम्भव है, कुछ दिनों बरेली की विशाल अतिथिशाला में रखा जाऊँ। जिस गाँव से भानुकुँवरि का सरोकार न था, उसकी चर्चा उनसे क्यों की जाती?"

इसके बाद बहुत-से गवाह पेश हुए; जिनमें अधिकांश आस-पास के देहातों के ज़मींदार थे। उन्होंने बयान किया कि हमने मुंशी सत्यनारायण को असामियों को अपनी दस्तखती रसीदें देते और अपने नाम से खज़ाने में रुपया दाखिल करते देखा है।

इतने में संध्या हो गई। अदालत ने एक सप्ताह में फैसला सुनाने का हुक्म दिया।

८

सत्यनारायण को अब अपनी जीत में कोई सन्देह न था। वादी पक्ष के गवाह भी उखड़ गये थे और बहस भी सबूत से खाली थी अब इनकी गिनती भी ज़मींदारों में होगी और सम्भव है, वह कुछ दिनों में रईस कहलाने लगें। पर किसी-न-किसी कारण से अब वह शहर के गण्य मान्य पुरुषों से आँखें मिलाते शरमाते थे। उन्हें देखते ही उनका सिर नीचा हो जाता था। वह मन में डरते थे कि वे लोग कहीं इस विषय पर कुछ पूछ-ताछ न कर बैठें। वह बाज़ार में निकलते तो दूकानदारों में कुछ कानाफूसी होने लगती और लोग उन्हें तिरछी दृष्टि से देखने लगते। अब तक लोग उन्हें विवेकशील और सच्चरित्र मनुष्य समझते थे, शहर के धनी-मानी उन्हें इज्जत की निगाह से देखते और उनका बड़ा आदर करते थे। यद्यपि मुन्शीजी को अब तक किसी से टेढ़ी तिरछी सुनने का संयोग न पड़ा था, तथापि उनका मन कहता था कि सच्ची बात किसी से छिपी नहीं है। चाहे अदालत से उनकी जीत हो जाय; पर उनकी साख अब जाती रही। अब उन्हें लोग स्वार्थी, कपटी और दग़ाबाज़ समझेंगे। दूसरों की तो बात अलग रही, स्वयं उनके घरवाले उनकी उपेक्षा करते थे। बूढ़ी माता ने तीन दिन से मुँह में पानी नहीं डाला था। स्त्री बार-बार हाथ जोड़कर कहती थी कि अपने कि अपने प्यारे बालकों पर दया करो। बुरे काम का फल कभी अच्छा नहीं होता! नहीं तो पहले मुझी को विष खिला दो?

जिस दिन फ़ैसला सुनाया जानेवाला था, प्रातःकाल एक कुंजड़िन तरकारियाँ लेकर आई और मुन्शियाइन से बोली—

बहूजी! हमने बाज़ार में एक बात सुनी है। बुरा न मानो तो कहूँ? जिसको देखो, उसके मुँह में यही बात निकलती है कि लाला बाबू ने जालसाज़ी से पण्डिताइन का कोई इलाका ले लिया। हमें तो इस पर यकीन नहीं आता। लाला बाबू ने न सँभाला होता, तो अब तक पण्डिताइन का कहीं पता न लगता। एक अँगुल ज़मीन न बचती। इन्हीं ऐसा सरदार था कि सबको सँभाल लिया। तो क्या अब उन्हीं के साथ बदी करेंगे? अरे बहू! कोई कुछ साथ लाया है कि ले जायगा! यही नेकी-बदी रह जाती है! बुरे का फल बुरा होता है। आदमी न देखे, पर अल्लाह सब कुछ देखता है।

बहूजी पर घड़ों पानी पड़ गया। जी चाहता था कि धरती फट जाती, तो उसमें समा जातीं। स्त्रियाँ स्वभावतः लज्जावती होती हैं। उनमें आत्माभिमान की मात्रा अधिक होती है। निन्दा-अपमान उनसे सहन नहीं हो सकता। सिर झुकाये हुए बोली बुआ!

मैं इन बातों को क्या जानूँ? मैंने तो आज ही तुम्हारे मुँह से सुनी है। कौन-सी तरकारियाँ हैं?

मुंशी सत्यनारायण अपने कमरे में लेटे हुए कुँजड़िन की बातें सुन रहे थे। उसके चले जाने के बाद आकर स्त्री से पूछने लगे—यह शैतान की खाला क्या कह रही थी?

स्त्री ने पति की ओर से मुँह फेर लिया और ज़मीन की ओर ताकते हुए बोली—क्या तुमने नहीं सुना? तुम्हारा गुन-गान कर रही थी। तुम्हारे पीछे देखो किस-किसके मुँह से ये बातें सुननी पड़ती हैं और किस-किससे मुँह छिपाना पड़ता है।

मुंशीजी अपने कमरे में लौट आए। स्त्री को कुछ उत्तर नहीं दिया। उनकी आत्मा लज्जा से परास्त हो गई। जो मनुष्य सदैव सर्व-सम्मानित रहा हो, जो सदा आत्माभिमान से सिर उठाकर चलता रहा हो, जिसकी सुकृति की सारे शहर में चर्चा होती रही हो, वह कभी सर्वथा लज्जाशून्य में नहीं हो सकता; लज्जा कुपथ की सबसे बड़ी शत्रु है। कुवासनाओं के भ्रम में पड़कर मुंशीजी ने समझा था, मैं इस काम को ऐसी गुप्त रीति से पूरा कर ले जाऊँगा कि किसी को कानोंकान खबर न होगी, पर उनका यह मनोरथ सिद्ध न हुआ। बाधाएँ आ खड़ी हुईं। उनके हटाने में उन्हें बड़े दुस्साहस से काम लेना पड़ा; पर यह भी उन्होंने लज्जा से बचने के निमित्त किया। जिसमें यह कोई न कहे कि अपनी स्वामिनी को धोखा दिया। इतना यत्न करने पर भी वह निन्दा से न बच सके। बाज़ार की सौदा बेचनेवालियाँ भी अब उनका अपमान करती हैं। कुवासनाओं से दबी हुई लज्जाशक्ति इस कड़ी चोट को सहन न कर सकी। मुंशीजी सोचने लगे, अब मुझे धन-सम्पत्ति मिल जायगी, ऐश्वर्यवान् हो जाऊँगा; परन्तु निंदा से मेरा पीछा न छूटेगा। अदालत का फैसला मुझे लोक-निन्दा से बचा सकेगा। ऐश्वर्य का फल क्या है? मान और मर्यादा। उससे हाथ धो बैठा, तो इस

ऐश्वर्य को लेकर क्या करूँगा ? चित्त की शक्ति खोकर, लोक-लज्जा सहकर, जन समुदाय में नीच बनकर और अपने घर में कलह का बीज बोकर वह सम्पत्ति मेरे किस काम आएगी ? और यदि वास्तव में कोई न्यायशक्ति हो और वह मुझे इस दुष्कृत्य का दण्ड दे, तो मेरे लिए सिवा मुँह में कालिख लगाकर निकल जाने के और कोई मार्ग न रहेगा। सत्यवादी मनुष्य पर कोई विपत्ति पड़ती है तो लोग उसके साथ सहानुभूति करते हैं। दुष्टों की विपत्ति लोगों के लिए व्यंग की सामग्री बन जाती है उस अवस्था में ईश्वर अन्यायी ठहराया जाता है; मगर दुष्टों की विपत्ति ईश्वर के न्याय को सिद्ध करती है। परमात्मन्! इस दुर्दशा से किसी तरह मेरा उद्धार करो! क्यों न जाकर मैं भानुकुँवरि के पैरों पर गिर पड़ूँ और विनय करूँ कि यह मुक़दमा उठा लो ? शोक! पहले यह बात मुझे क्यों न सूझी! अगर कल तक मैं उनके पास चला गया होता, तो बात बन जाती; पर अब क्या हो सकता है ? आज तो फ़ैसला सुनाया जायगा।

मुंशीजी देर तक इसी विचार में पड़े रहे; पर कुछ निश्चय न कर सके कि क्या करें।

भानुकुँवरि को भी विश्वास हो गया कि अब गाँव हाथ से गया। बेचारी हाथ मलकर रह गई। रातभर उसे नींद न आई। रह रहकर मुंशी सत्यनारायण पर क्रोध आता था। हाय पापी! ढोल बजाकर मेरा पचास हजार का माल लिए जाता है। और मैं कुछ नहीं कर सकती। आजकल के न्याय करनेवाले बिलकुल आँख के अन्धे हैं। जिस बात को सारी दुनिया जानती है उसमें भी उनकी दृष्टि नहीं पहुँचती। बस दूसरों की आँखों से देखते हैं। कोरे काग़ज़ों के गुलाम हैं। न्याय वह है कि दूध का दूध, पानी का पानी कर दे; यह नहीं कि खुद ही काग़ज़ों के धोखे में आ जाय, खुद ही पाखण्डियों के जाल में फँस जाय। इसी से तो ऐसे छली, कपटी, दग़ाबाज़, दुरात्माओं का साहस बढ़ गया है। खैर, गाँव जाता है तो जाय; लेकिन सत्यनारायण, तुम तो शहर में कहीं मुँह दिखाने के लायक नहीं रहे।

इस ख़याल से भानुकुँवरि को कुछ शान्ति हुई। शत्रु की हानि मनुष्य को अपने लाभ से भी अधिक प्रिय होती है। मानव स्वभाव ही कुछ ऐसा है। तुम हमारा एक गाँव ले गए, नारायण चाहेंगे; तो तुम भी इससे सुख न पाओगे।

तुम आप नरक की आग में जलोगे, तुम्हारे घर में कोई दिया जलानेवाला न रहेगा।

फैसले का दिन आ गया। आज इजलास में बड़ी भीड़ थी। ऐसे-ऐसे महानुभाव उपस्थित थे, जो बगुलों की तरह अफसरों की बधाई और बिदाई के अवसरों ही में नजर आया करते हैं। वकीलों और मुख्तारों की काली पल्टन भी जमा थी। नियत समय पर जज साहब ने इजलास को सुशोभित किया। विस्तृत न्याय-भवन में सन्नाटा छा गया। अहलमद ने संदूक से तजवीज निकाली। लोग उत्सुक होकर एक-एक कदम और आगे खिसक गए।

जज ने फैसला सुनाया—मुद्दई का दावा खारिज। दोनों पक्ष अपना-अपना खर्च सह लें।

यद्यपि फैसला लोगों के अनुमान के अनुसार ही था, तथापि जज के मुँह से उसे सुनकर लोगों में हलचल-सी मच गई। उदासीन भाव से इस फैसले पर आलोचनाएँ करते हुए लोग धीरे-धीरे कमरे से निकलने लगे।

एकाएक भानुकुँवरि घूँघट निकाले इजलास पर आकर खड़ी हो गई। जानेवाले लौट पड़े। जो बाहर निकल गये थे, दौड़कर आ गये और कौतूहल-पूर्वक भानुकुँवरि की तरफ ताकने लगे।

भानुकुँवरि ने कंपित स्वर में जज से कहा—सरकार यदि हुक्म दें, तो मैं मुंशीजी से कुछ पूछूँ!

यद्यपि यह बात नियम के विरुद्ध थी, तथापि जज ने दयापूर्वक आज्ञा दे दी।

तब भानुकुँवरि ने सत्यनारायण की तरफ देखकर कहा—लालाजी, सरकार ने तुम्हारी डिग्री तो कर ही दी। गाँव तुम्हें मुबारक रहे; मगर ईमान आदमी का सब कुछ है! ईमान से कह दो, गाँव किसका है?

हजारों आदमी यह प्रश्न सुनकर कौतूहल से सत्यनारायण की तरफ देखने लगे। मुंशीजी विचार-सागर में डूब गए। हृदय में संकल्प और विकल्प में घोर संग्राम-सागर होने लगा। हजारों मनुष्यों की आँखें उनकी तरफ जमी हुई थीं। यथार्थ बात अब किसी से छिपी न थी। इतने आदमियों के सामने असत्य बात मुँह से निकल न सकी। लज्जा ने जबान बन्द कर ली—"मेरा" कहने में काम बनता था। कोई बात न थी; किन्तु घोरतम पाप का जो दंड समाज दे सकता

है, उसके मिलने का पूरा भय था। "आपका" कहने से काम बिगड़ता था। जीती-जिताई बाज़ी हाथ से जाती थी; पर सर्वोत्कृष्ट काम के लिए समाज से जो इनाम मिल सकता है, उसके मिलने की पूरी आशा थी। आशा ने भय को जीत लिया। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ जैसे ईश्वर ने मुझे अपना मुख उज्ज्वल करने का यह अंतिम अवसर दिया है। मैं अब भी मानव सम्मान का पात्र बन सकता हूँ। अब भी अपनी आत्मा की रक्षा कर सकता हूँ। उन्होंने आगे बढ़कर भानुकुँवरि को प्रणाम किया और काँपते हुए स्वर में बोले "आपका।"

हज़ारों मनुष्यों के मुँह से एक गगनस्पर्शी ध्वनि निकली—"सत्य का जय।"

जज ने खड़े होकर कहा—यह क़ानून का न्याय नहीं,

"ईश्वरीय न्याय"

है! इसे कथा न समझिएगा; सच्ची घटना है। भानुकुँवरि और सत्यनारायण अब भी जीवित हैं। मुंशीजी के इस नैतिक साहस पर लोग मुग्ध हो गये। मानवीय न्याय पर ईश्वरीय न्याय ने जो विलक्षण विजय पाई। उसकी चर्चा शहर भर में महीनों रही। भानुकुँवरि मुंशीजी के घर गईं। उन्हें मना कर लाईं। फिर अपना सारा कारोबार उन्हें सौंपा और कुछ दिनों के उपरान्त यह गाँव उन्हीं के नाम हिब्बा कर दिया। मुंशीजी ने भी उसे अपने अधिकार में रखना उचित न समझा, कृष्णार्पण कर दिया। अब इसकी आमदनी दीन-दुखियों और विद्यार्थियों की सहायता में खर्च होती है।

सुजान भगत

१

सीधे-सादे किसान धन हाथ आते ही धर्म और कीर्ति की ओर झुकते हैं। दिव्य समाज की भाँति वे पहले अपने भोग-विलास की ओर नहीं दौड़ते। सुजान की खेती में कई साल से कंचन बरस रहा था। मेहनत तो गाँव के सभी किसान करते थे; पर सुजान के चन्द्रमा बली थे। ऊसर में भी दाना छींट आता; तो कुछ-न-कुछ पैदा हो जाता था। तीन वर्ष लगातार ऊख लगती गई। उधर गुड़ का भाव तेज था, कोई दो-ढाई हजार हाथ में आ गये। बस, चित्त की वृत्ति धर्म की ओर झुक पड़ी। साधु-संतों का आदर-सत्कार होने लगा, द्वार पर धूनी जलने लगी। कानूनगो इलाके में आते तो सुजान महतो के चौपाल में ठहरते। हल्के के हेड-कांस्टेबिल, थानेदार, शिक्षा-विभाग के अफसर—एक-न-एक उस चौपाल में पड़ा ही रहता। महतो मारे खुशी के फूले न समाते। धन्य भाग्य! उनके द्वार पर अब इतने बड़े हाकिम आकर ठहरते हैं। जिन हाकिमों के सामने उनका मुँह न खुलता था; उन्हीं की अब महतो-महतो कहते जबान सूखती थी। कभी-कभी भजन-भाव हो जाता। एक महात्मा ने डौल अच्छा देखा, तो गाँव में आसन जमा दिया। गाँजे और चरस की बहार उड़ने लगी, एक ढोलक आई। मँजीरे मँगवाये गये, सत्संग होने लगा। यह सब सुजान के दम का जलूस था। घर में सेरों दूध होता, मगर सुजान के कंठ-तले एक बूँद जाने की कसम थी। कभी हाकिम लोग चखते, कभी महात्मा लोग। किसान को दूध-घी से क्या मतलब, उसे रोटी और साग चाहिए। सुजान की नम्रता का अब वारापार न था। सबके सामने सिर झुकाये रहता, कहीं लोग यह न कहने लगें कि धन पाकर इसे घमंड हो गया है। गाँव में कुल तीन ही कुएँ थे। बहुत-से खेतों में पानी न पहुँचता था, खेती मारी जाती थी। सुजान ने एक

कुआँ बनवा दिया। कुएँ का विवाह हुआ, यज्ञ हुआ, ब्रह्मभोज हुआ। जिस दिन कुएँ पर पहली बार पुर चला, सुजान को मानो चारों पदार्थ मिल गये! जो काम गाँव में किसी ने न किया था, वह बाप-दादा के पुण्य-प्रताप से सुजान ने कर दिखाया।

एक दिन गाँव में गया के यात्री आकर ठहरे। सुजान ही के द्वार पर उनका भोजन बना। सुजान के मन में भी गया करने की बहुत दिनों से इच्छा थी। यह अच्छा अवसर देखकर वह भी चलने को तैयार हो गया।

उसकी स्त्री बुलाकी ने कहा—अभी रहने दो, अगले साल चलेंगे!

सुजान ने गंभीर भाव से कहा—अगले साल क्या होगा, कौन जानता है। धर्म के काम में मीन-मेष निकालना अच्छा नहीं। जिंदगानी का क्या भरोसा।

बुलाकी—हाथ खाली हो जायगा।

सुजान—भगवान् की इच्छा होगी तो फिर रुपये हो जायँगे। उनके यहाँ किस बात की कमी है!

बुलाकी इसका क्या जवाब देती। सत्कार्य में बाधा डालकर अपनी मुक्ति क्यों बिगाड़ती! प्रातःकाल स्त्री और पुरुष गया करने चले। वहाँ से लौटे, तो यज्ञ और ब्रह्मभोज की ठहरी। सारी बिरादरी निमन्त्रित हुई। ग्यारह गाँवों में सुपारी बँटी। इस धूम-धाम से कार्य हुआ कि चारों ओर वाह-वाह मच गई। सब यही कहते कि भगवान् धन दे, तो दिल भी ऐसा ही दे। घमंड तो छू नहीं गया, अपने हाथ से पत्तल उठाता फिरता था, कुल का नाम जगा दिया। बेटा हो, तो ऐसा हो। बाप मरा तो घर में भूनी भाँग भी नहीं। अब लक्ष्मी घुटने तोड़कर आ बैठी हैं।

एक द्वेषी ने कहा—कहीं गड़ा हुआ धन पा गया है। इस पर चारों ओर से उस पर बौछारें पड़ने लगीं—हाँ, तुम्हारे बाप-दादा जो खज़ाना छोड़ गए थे, वही उसके हाथ लगा है। अरे भैया, यह धर्म की कमाई है। तुम भी तो छाती फाड़कर काम करते हो, क्यों ऐसी ऊख नहीं लगती, क्यों ऐसी फसल नहीं होती? भगवान् आदमी का दिल देखते हैं, जो खर्च करना चाहता है; उसी को देते हैं।

२

सुजान महतो सुजान भगत हो गये। भगतों के आचार-विचार कुछ और

ही होते हैं। वह बिना स्नान किए कुछ नहीं खाता। गंगाजी अगर घर से दूर हों और वह रोज स्नान करके दोपहर तक घर न लौट सकता हो, तो पर्वों के दिन तो उसे अवश्य ही नहाना चाहिए। भजन-भाव उसके घर अवश्य होना चाहिये। पूजा अर्चा उसके लिए अनिवार्य है। खान-पान में भी उसे बहुत विचार रखना पड़ता है। सबसे बड़ी बात यह है कि झूठ का त्याग करना पड़ता है। भगत झूठ नहीं बोल सकता। साधारण मनुष्य को अगर झूठ का दण्ड एक मिले, तो भगत को एक लाख से कम नहीं मिल सकता। अज्ञान अवस्था में कितने ही अपराध क्षम्य हो जाते हैं। इसके लिए क्षमा नहीं, प्रायश्चित नहीं, या है तो बहुत कठिन। सुजान को भी अब भगतों की मर्यादा को निभाना पड़ा! अब तक उसका जीवन मजूर का जीवन था। उसका कोई आदर्श, कोई मर्यादा उसके सामने न थी। अब उसके जीवन में विचार का उदय हुआ, जहाँ का मार्ग काँटों से भरा हुआ है। स्वार्थ-सेवा ही पहले उसके जीवन का लक्ष्य था, इसी काँटे से वह परिस्थितियों को तौलता था। अब वह उन्हें औचित्य के काँटों पर तौलने लगा। यों कहो कि जड़-जगत् से निकलकर उसने चेतन-जगत् में प्रवेश किया। उसने कुछ लेन-देन करना शुरू किया था; पर अब उसे ब्याज लेते हुए आत्मग्लानि-सी होती थी। यहाँ तक कि गउओं को दुहाते समय उसे बछड़ों का ध्यान बना रहता था—कहीं बछड़ा भूखा न रह जाय, नहीं तो उसका रोआँ दुखी होगा! वह गाँव का मुखिया था, कितने ही मुकदमे में उसने झूठी शहादतें बनवाई थीं, कितनों से डाँड़ लेकर मामले को रफा-दफा कर दिया था। अब इन व्यापारों से घृणा होती थी। झूठ और प्रपंच से कोसों भागता था। पहले उसकी यह चेष्टा होती थी कि मजूरों से जितना काम लिया जा सके, लो और मजूरी जितनी कम दी जा सके, दो; पर अब उसे मजूरों के काम की कम, मजूरी की अधिक चिन्ता रहती थी—कहीं बेचारे मजूर का रोयाँ न दुखी हो जाय। यही उसका सखुनतकिया-सा हो गया—किसी का रोयाँ न दुखी हो जाय। उसके दोनों जवान बेटे बात-बात में उसपर फब्तियाँ कसते, यहाँ तक कि बुलाकी भी अब उसे कोरा भगत समझने लगी, जिसे घर के भले-बुरे से कोई प्रयोजन न था। चेतन-जगत् में आकर सुजान भगत कोरे भगत रह गये।

सुजान के हाथों से धीरे-धीरे अधिकार छीने जाने लगे। किस खेत में

क्या बोना है, किसको क्या देना है, किससे क्या लेना है, किस भाव क्या चीज बिकी, ऐसी महत्वपूर्ण बात में भी भगतजी की सलाह न ली जाती। भगत के पास कोई जाने ही न पाता। दोनों लड़के या स्वयं बुलाकी दूर ही मामला कर लिया करतीं। गाँव-भर में सुजान का मान-सम्मान बढ़ता था, अपने घर में घटता था; लड़के उसका सत्कार अब बहुत करते। उसे हाथ से चारपाई उठाते देख लपककर खुद उठा लाते, उसे चिलम न भरने देते, यहाँ तक की उसकी धोती छाँटने के लिए भी आग्रह करते थे। मगर अधिकार उसके हाथ में न था। वह अब घर का स्वामी नहीं, मन्दिर का देवता था।

३

एक दिन बुलाकी ओखली में दाल छाँट रही थी। एक भिखमंगा द्वार पर आकर चिल्लाने लगा। बुलाकी ने सोचा, दाल छाँट लूँ, तो उसे कुछ दूँ। इतने में बड़ा लड़का—भोला—आकर बोला—अम्माँ, एक महात्मा द्वार पर खड़े गला फाड़ रहे हैं, कुछ दे दो। नहीं तो उसका रोयाँ दुखी हो जायगा।

बुलाकी ने उपेक्षा-भाव से कहा—भगत के पाँव में क्या मेंहदी लगी है, क्यों कुछ ले जाकर नहीं दे देते! क्या मेरे चार हाथ हैं? किस-किसका रोयाँ सुखी करूँ, दिन-भर तो ताँता लगा रहता है।

भोला—चौपट करने पर लगे हुये हैं और क्या? अभी महँगू बेंग देने आया था। हिसाब से सात मन हुए। तौला तो पौने सात मन ही निकले। मैंने कहा—दस सेर और ला, तो आप बैठे-बैठे कहते हैं, अब इतनी दूर कहाँ लेने जायगा। भरपाई लिख दो, नहीं तो उसका रोयाँ दुखी होगा। मैंने भरपाई नहीं लिखी। दस सेर बाकी लिख दी।

बुलाकी—बहुत अच्छा किया तुमने, बकने दिया करो; दस-पाँच दफे मुँह की खायँगे तो आप ही बोलना छोड़ देंगे।

भोला—दिनभर एक-न-एक खुचड़ निकालते रहते हैं। सौ दफे कह दिया कि घर-गृहस्थी के मामले में न बोला करो; पर इनसे बिना बोले रहा ही नहीं जाता।

बुलाकी—अगर मैं जानती कि इनका यह हाल होगा, तो गुरुमन्त्र न लेने देती।

भोला—भगत क्या हुए कि दीन दुनिया—दोनों से गये। सारा दिन पूजा पाठ में ही उड़ जाता है। अभी ऐसे बूढ़े नहीं हो गये कि कोई काम न कर सकें।

बुलाकी ने आपत्ति की—भोला, यह तुम्हारा कुन्याय है। फावड़ा-कुदाल अब उनसे नहीं हो सकता; लेकिन कुछ-न-कुछ तो करते ही रहते हैं। बैलों को सानी-पानी देते हैं, गाय दुहाते हैं और भी जो कुछ हो सकता है, करते हैं।

भिक्षुक अभी तक खड़ा चिल्ला रहा था। सुजान ने जब घर में से किसी को कुछ लाते न देखा, तो उठकर अन्दर गया और कठोर स्वर से बोला—तुम लोगों को कुछ सुनाई नहीं देता कि द्वार पर कौन घन्टे-भर से खड़ा भीख माँग रहा है? अपना काम तो दिन-भर करना ही है, एक छन भगवान् का काम भी तो किया करो।

बुलाकी—तुम तो भगवान् का काम करने को बैठे ही हो, क्या घर-भर भगवान् ही का काम करेगा?

सुजान—कहाँ आटा रखा है, लाओ, मैं ही निकालकर दे आऊँ। तुम रानी बनकर बैठो।

बुलाकी—आटा मैंने मर-मरकर पीसा है, अनाज दे दो। ऐसे मुड़-चिरों के लिए पहर-रात में उठकर चक्की नहीं चलाती हूँ।

सुजान भंडार-घर में गये और एक छोटी-सी छबड़ी को जौ से भरे हुए निकले। जौ सेर-भर से कम न था। सुजान ने जान-बूझकर, केवल बुलाकी और भोला को चिढ़ाने के लिए, भिक्षा-परम्परा का उल्लंघन किया था। तिसपर भी यह दिखाने के लिए कि छबड़ी में बहुत ज्यादा जौ नहीं है, उसे चुटकी से पकड़े हुए थे। चुटकी इतना बोझ न सँभाल सकती थी। हाथ काँप रहा था। एक क्षण का विलम्ब होने से छबड़ी के हाथ से छूटकर गिर पड़ने की संभावना थी, इसलिए वह जल्दी से बाहर निकल जाना चाहते थे। सहसा भोला ने छबड़ी उनके हाथ से छीन ली और त्योरियाँ बदलकर बोला—सेंत का माल नहीं है। जो लुटाने चले हो? छाती फाड़-फाड़कर काम करते हैं, तब दाना घर में आता है।

सुजान ने खिसियाकर कहा—मैं भी तो बैठा नहीं रहता।

भोला—भीख भीख की तरह दी जाती है; लुटाई नहीं जाती। हम तो एक

बैला खाकर दिन काटते हैं कि पति-रानी बना रहे और तुम्हें लुटाने की सूझती है। तुम्हें क्या मालूम कि घर में क्या हो रहा है।

सुजान ने इसका कोई जवाब नहीं दिया। बाहर आकर भिखारी से कह दिया—बाबा, इस समय जाओ, किसी का हाथ खाली नहीं है और पेड़ के नीचे बैठकर विचारों में मग्न हो गया। अपने ही घर में उसका यह अनादर! अभी वह अपाहिज नहीं है, हाथ-पाँव थके नहीं है, घर का कुछ न-कुछ काम करता ही रहता है। उसपर यह अनादर! उसी ने यह घर बनाया, यह सारी विभूति उसी के श्रम का फल है; पर अब इस घर पर उसका कोई अधिकार नहीं रहा। अब द्वार का कुत्ता है, पड़ा रहे और घरवाले जो रूखा-सूखा दे दें, वह खाकर पेट भर लिया करे। ऐसे जीवन को धिक्कार है! सुजान ऐसे घर में नहीं रह सकता।

सन्ध्या हो गई थी। भोला का छोटा भाई शंकर नारियल भरकर लाया। सुजान ने नारियल दीवार से टिकाकर रख दिया। धीरे-धीरे तम्बाखू जल गया। जरा देर में भोला ने द्वार पर चारपाई डाल दी। सुजान पेड़ के नीचे से न उठा।

कुछ देर और गुजरी। भोजन तैयार हुआ। भोला बुलाने आया। सुजान ने कहा—भूख नहीं है। बहुत मनावन करने पर भी न उठा। तब बुलाकी ने आकर कहा—खाना खाने क्यों नहीं चलते? जी तो अच्छा है?

सुजान को सबसे अधिक क्रोध बुलाकी पर था। यह भी लड़कों के साथ है! यह बैठी रही और भोला ने मेरे हाथ से अनाज छीन लिया। इसके मुँह से इतना भी न निकला कि ले जाते हैं तो ले जाने दो। लड़कों को न मालूम हो कि मैंने कितने श्रम से यह गृहस्थी जोड़ी है, पर यह तो जानती है। दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा। भादों की अँधेरी रातों में मड़ैया लगाये जुआर की रखवाली करता था, जेठ-बैसाख की दोपहरी में भी दम न लेता था और अब मेरा घर पर इतना भी अधिकार नहीं है कि भीख तक दे सकूँ। माना कि भीख इतनी नहीं दी जाती; लेकिन इनको तो चुप रहना चाहिए था, चाहे मैं घर में आग ही लगा देता। कानून से भी तो मेरा कुछ होता है। मैं अपना हिस्सा नहीं खाता, दूसरों को खिला देता हूँ; इसमें किसी के बाप का क्या साझा!

अब इस वक्त मनाने आई है। इसे मैंने फूल की छड़ी से भी नहीं छुआ, नहीं तो गाँव में कौन ऐसी औरत है, जिसने खसम की लातें न खाई हों, कभी कड़ी निगाह से देखा तक नहीं। रुपये-पैसे, लेना-देना सब इसी के हाथ में दे रखा था। अब रुपये जमा कर लिये हैं, तो मुझी से घमण्ड करती है। अब इसे बेटे प्यारे हैं, मैं तो निखट्टू, लुटाऊ, घरफूँकू, और घोंघा हूँ। मेरी इसे क्या परवा। तब लड़के न थे, जब बीमार पड़ी थी और मैं गोद में उठाकर वैद्य के घर ले गया था, आज इसके बेटे हैं और यह उनकी माँ है। मैं तो बाहर का आदमी हूँ, मुझसे घर से मतलब ही क्या। बोला—मैं अब खा-पीकर क्या करूँगा, हल जोतने से रहा। फावड़ा चलाने से रहा। मुझे खिलाकर दाने को क्यों खराब करोगी? रख दो, बेटे दूसरी बार खायँगे।

बुलाकी—तुम तो जरा जरा-सी बात पर तिनक जाते हो। सच कहा है, बुढ़ापे में आदमी की बुद्धि मारी जाती है। भोला ने इतना ही तो कहा था कि इतनी भीख मत ले जाओ, या और कुछ?

सुजान—हाँ, बेचारा इतना ही कहकर रह गया। तुम्हें तो तब मजा आता, जब वह ऊपर से दो-चार डंडे लगा देता। क्यों, अगर यही अभिलाषा हो तो पूरी कर लो। भोला खा चुका होगा, बुला लाओ। नहीं भोला को क्यों बुलाती हो, तुम्हीं न जमा दो दो-चार हाथ। इतनी कसर है, वह भी पूरी हो जाय।

बुलाकी—हाँ और क्या, यही तो नारी का धरम है। अपना भाग सराहो कि मुझ जैसी सीधी औरत पा ली। जिस बल चाहते हो, बिठाते हो। ऐसी मुँहजोर होती, तो तुम्हारे घर में एक दिन निबाह न होता।

सुजान—हाँ भाई, वह तो मैं ही कह रहा हूँ कि तुम देवी थीं और हो। मैं तब भी राक्षस था और अब तो दैत्य हो गया हूँ। बेटे कमाऊ हैं, उनकी-सी न कहोगी, तो क्या मेरी-सी कहोगी, मुझसे अब क्या लेना-देना है?

बुलाकी—तुम झगड़ा करने पर तुले हो और मैं झगड़ा बचाती हूँ कि चार आदमी हँसेंगे। चलकर खाना खा लो सीधे से, नहीं तो मैं भी जाकर सो रहूँगी।

सुजान—तुम भूखी क्यों सो रहोगी, तुम्हारे बेटे की तो कमाई है, हाँ मैं बाहरी आदमी हूँ।

बुलाकी—बेटे तुम्हारे भी तो हैं ?

सुजान—नहीं, मैं ऐसे बेटों से बाज आया। किसी और के बेटे होंगे। मेरे बेटे होते तो क्या मेरी यह दुर्गति होती ?

बुलाकी—गालियाँ दोगे, तो मैं भी कुछ कह बैठूँगी। सुनती थी कि मर्द बड़े समझदार होते हैं, पर तुम सबसे न्यारे हो। आदमी को चाहिए कि जैसा समय देखे, वैसा काम करे। अब हमारा और तुम्हारा निबाह इसी में है कि नाम के मालिक बने रहें और वही करें जो लड़कों को अच्छा लगे। मैं यह बात समझ गई, तुम क्यों नहीं समझ पाते ? जो कमाता है, उसी का घर में राज होता है, यही दुनिया का दस्तूर है। मैं बिना लड़कों से पूछे कोई काम नहीं करती, तुम क्यों अपने मन की करते हो ? आधी रोटी खाओ, भगवान् का भजन करो और पड़े रहो। चलो, खाना खा लो !

सुजान—अब मैं द्वार का कुत्ता हूँ ?

बुलाकी—बात जो थी, वह मैंने कह दी, अब आप अपने को जो चाहे समझो।

सुजान न उठे। बुलाकी हारकर चली गई।

सुजान के सामने अब एक नयी समस्या खड़ी हो गयी थी। वह बहुत दिनों से घर का स्वामी था और अब भी ऐसा ही समझता था। परिस्थिति में कितना उलट-फेर हो गया था; इसकी उसे खबर न थी। लड़के उसका सेवा-सम्मान करते हैं, यह बात उसे भ्रम में डाले हुई थी। लड़के उसके सामने चिलम नहीं पीते, खाट पर नहीं बैठते, क्या यह सब उसके गृह-स्वामी होने का प्रमाण न था ? पर आज उसे ज्ञात हुआ कि यह केवल श्रद्धा थी, उसके स्वामित्व का प्रमाण नहीं। क्या इस श्रद्धा के बदले वह अपना अधिकार छोड़ सकता था ? कदापि नहीं। अब तक जिस घर में राज्य किया, उसी घर में पराधीन बनकर वह नहीं रह सकता। उसको श्रद्धा की चाह नहीं, सेवा की भूख नहीं। उसे अधिकार चाहिए। वह इस घर पर दूसरों का अधिकार नहीं देख सकता। मंदिर का पुजारी बनकर नहीं रह सकता।

न-जाने कितनी रात बाकी थी। सुजान ने उठकर गँड़ासे से बैलों का चारा काटना शुरू किया। सारा गाँव सोता था, पर सुजान करबी काट रहे थे। इतना

श्रम उन्होंने अपने जीवन में कभी न किया था। जबसे उन्होंने काम करना छोड़ा था, बराबर चारे के लिये हाय हाय पड़ी रहती थी। भोला भी काटता था, शंकर भी काटता था; पर चारा पूरा न पड़ता था। आज वह इन लौंडों को दिखा देंगे, चारा कैसे काटना चाहिये। उनके सामने कटिया का पहाड़ खड़ा हो गया और टुकड़े कितने महीन और सुडौल थे, मानो साँचे में ढाले गये हों!

मुँह-अँधेरे बुलाकी उठी, तो कटिया का ढेर देखकर दंग रह गई। बोली—क्या भोला आज रातभर कटिया ही काटता रह गया? कितना कहा कि बेटा, जी से जहान है; पर मानता नहीं। रात को सोया ही नहीं।

सुजान भगत ने ताने से कहा—वह सोता ही कब है। जब देखता हूँ, तब काम ही करता रहता है। ऐसा कमाऊ संसार में और कौन होगा!

इतने में भोला आँखें मलता हुआ बाहर निकला। उसे भी यह ढेर देखकर आश्चर्य हुआ। माँ से बोला—क्या शंकर आज बड़ी रात को उठा था, अम्माँ?

बुलाकी—वह तो पड़ा सो रहा है। मैंने समझा, तुमने काटी होगी।

भोला—मैं तो सबेरे उठ ही नहीं पाता। दिन-भर चाहे जितना काम कर लूँ; रात को मुझसे नहीं उठा जाता।

बुलाकी—तो क्या तुम्हारे दादा ने काटी है?

भोला—हाँ, मालूम होता है रात-भर सोये नहीं। मुझसे कल बड़ी भूल हुई। अरे वह तो हल लेकर जा रहे हैं, जान देने पर उतारू हो गये हैं क्या?

बुलाकी—क्रोधी तो सदा के हैं। अब किसी की सुनेंगे थोड़े ही।

भोला—शंकर को जगा दो, मैं जल्दी से मुँह-हाथ धोकर हल ले जाऊँ।

जब और किसानों के साथ भोला हल लेकर खेत में पहुँचा, तो सुजान आधा खेत जोत चुके थे। भोला ने चुपके से शुरू किया। सुजान से बोलने की उसकी हिम्मत न पड़ी।

दोपहर हुआ। सभी किसानों ने हल छोड़ दिये; पर सुजान भगत अपने काम में मग्न हैं। भोला थक गया है। उसकी बार-बार इच्छा होती है कि बैलों को खोल दे, मगर डर के मारे कुछ कह नहीं सकता। उसको आश्चर्य हो रहा है कि दादा कैसे इतनी मेहनत कर रहे हैं।

आखिर डरते-डरते बोला—दादा, अब तो दोपहर हो गया, हल खोल दें न?

सुजान—हाँ, खोल दो। तुम बैलों को लेकर चलो, मैं डाँड़ फेंककर आता हूँ।

भोला—मैं संझा को डाँड़ फेंक दूँगा।

सुजान—तुम क्या फेंक दोगे। देखते नहीं हो, खेत कटोरे की तरह गहरा हो गया है। तभी तो बीच में पानी जम जाता है। इस गोइँड़ के खेत में बीस मन का बीघा होता था। तुम लोगों ने इसका सत्यानाश कर दिया।

बैल खोल दिये गये। भोला बैलों को लेकर घर चला; पर सुजान डाँड़ फेंकते रहे। आध घण्टे के बाद डाँड़ फेंककर वह घर आये; मगर थकन का नाम न था। नहा-खाकर आराम करने के बदले उन्होंने बैलों को सुहलाना शुरू किया। उनकी पीठ पर हाथ फेरा, उनके पैर मले, पूँछ सुहलाई। बैलों की पूछें खड़ी थीं। सुजान की गोद में सिर रखे उन्हें अकथनीय सुख मिल रहा था। बहुत दिनों के बाद आज उन्हें यह आनन्द प्राप्त हुआ। उनकी आँखों में कृतज्ञता भरी हुई थी। मानों वे कह रहे थे, हम तुम्हारे साथ रात-दिन काम करने को तैयार हैं।

अन्य कृषकों की भाँति भोला अभी कमर सीधी कर रहा था कि सुजान ने फिर हल उठाया और खेत की ओर चले। दोनों बैल उमंग से भरे दौड़े चले जाते थे, मानो उन्हें स्वयं खेत पहुँचने की जल्दी थी।

भोला ने मड़ैया में लेटे-लेटे पिता को हल लिये जाते देखा; पर उठ न सका। उसकी हिम्मत छूट गई। उसने कभी इतना परिश्रम न किया था। उसे बनी-बनाई गिरस्ती मिल गई थी। उसे ज्यों-त्यों चला रहा था। इन दामों वह घर का स्वामी बनने का इच्छुक न था। जवान आदमी को बीस धन्धे होते हैं। हँसने-बोलने के लिए, गाने बजाने के लिए उसे कुछ समय चाहिए। पड़ोस के गाँव में दंगल हो रहा है। जवान आदमी कैसे अपने को वहाँ जाने से रोकेगा? किसी गाँव से बारात आई है; नाच-गाना हो रहा है। जवान आदमी क्यों उसके आनन्द से वंचित रह सकता है? वृद्धजनों के लिए ये बाधाएँ नहीं। उन्हें न नाच-गाने से मतलब, न खेल-तमाशे से गरज़; केवल अपने काम से काम है।

बुलाकी ने कहा—भोला, तुम्हारे दादा हल लेकर गये।

भोला—जाने दो अम्माँ; मुझसे तो यह नहीं हो सकता।

४

सुजान भगत के उस नवीन उत्साह पर गाँव में टीकाएँ हुईं। निकल गई सारी भगती। बना हुआ था। माया में फँसा हुआ है। आदमी काहे को भूत है।

मगर भगतजी के द्वार पर अब फिर साधु-संत आसन जमाये देखे जाते हैं। उनका आदर-सम्मान होता है। अबकी उसकी खेती ने सोना उगल दिया है! बखारी में अनाज रखने को जगह नहीं मिलती। जिस खेत में पाँच मन मुश्किल से होता था, उसी खेत में अबकी दस मन की उपज हुई है।

चैत का महीना था। खलिहानों में सतयुग का राज था। जगह-जगह अनाज के ढेर लगे हुए थे। यही समय है जब कृषकों को भी थोड़ी देर के लिए अपना जीवन सफल मालूम होता है, जब गर्व से उसका हृदय उछलने लगता है। सुजान भगत टोकरों में अनाज भर भर देते थे और दोनों लड़के टोकरे लेकर घर में अनाज रख आते थे। कितने ही भाट और भिक्षुक भगतजी को घेरे हुए थे। उनमें वह भिक्षुक भी था; जो आज से आठ महीने पहले भगत के द्वार से निराश होकर लौट गया था।

सहसा भगत ने भिक्षुक से पूछा—क्यों बाबा, आज कहाँ-कहाँ चक्कर लगा आये?

भिक्षुक—अभी तो कहीं नहीं गया भगतजी, पहले तुम्हारे ही पास आया हूँ।

भगत—अच्छा, तुम्हारे सामने यह ढेर है। इसमें से जितना अनाज उठाकर ले जा सको, ले जाओ।

भिक्षुक ने लुब्ध नेत्रों से ढेर को देखकर कहा—जितना अपने हाथ से उठाकर दे दोगे, उतना ही लूँगा।

भगत—नहीं, तुमसे जितना उठ सके, उठा लो।

भिक्षुक के पास एक चादर थी। उसने कोई दस सेर अनाज उसमें भरा और उठाने लगा। संकोच के मारे और अधिक भरने का उसे साहस न हुआ।

भगत उसके मन का भाव समझकर आश्वासन देते हुए बोले—बस? इतना तो एक बच्चा ले जायगा।

भिक्षुक ने भोला की ओर संदिग्ध नेत्रों से देखकर कहा—मेरे लिए इतना बहुत है।

भगत—नहीं, तुम सकुचाते हो, अभी और भरो।

भिक्षुक ने एक पसेरी अनाज और भरा और फिर भोला की ओर सशंक दृष्टि से देखने लगा।

भगत—उसकी ओर क्या देखते हो बाबाजी, मैं जो कहता हूँ वह करो। तुमसे जितना उठाया जा सके, उठा लो।

भिक्षुक डर रहा था कि कहीं उसने अनाज भर लिया और भोला ने गठरी उठाने न दी, तो कितनी भद्द होगी। और भिक्षुकों को हँसने का अवसर मिल जायगा। सब यही कहेंगे कि भिक्षुक कितना लोभी है! उसे और अनाज भरने की हिम्मत न पड़ी।

तब सुजान भगत ने चादर लेकर उसमें अनाज भरा और गठरी बाँधकर बोले—इसे उठा ले जाओ।

भिक्षुक—बाबा, इतना तो मुझसे उठ न सकेगा।

भगत—अरे! इतना भी न उठ सकेगा! बहुत होगा, तो मन भर। भला ज़ोर तो लगाओ, देखूँ, उठा सकते हो या नहीं।

भिक्षुक ने गठरी को आजमाया। भारी थी। जगह से हिली भी नहीं। बोला—भगतजी, यह मुझसे न उठेगी।

भगत—अच्छा बताओ, किस गाँव में रहते हो?

भिक्षुक—बड़ी दूर है भगतजी, अमोला का नाम तो सुना होगा?

भगत—अच्छा, आगे-आगे चलो, मैं पहुँचा दूँगा।

यह कहकर भगत ने ज़ोर लगाकर गठरी उठाई और सिर पर रखकर भिक्षुक के पीछे हो लिये। देखनेवाले भगत का यह पौरुष देखकर चकित हो गये। उन्हें क्या मालूम था कि भगत पर इस समय कौन-सा नशा था। आठ महीने के निरन्तर अविरल परिश्रम का आज उन्हें फल मिला था। आज उन्होंने अपना खोया हुआ अधिकार पाया था वही तलवार, जो केले को भी नहीं काट सकती, सान पर चढ़कर लोहे को काट देती है। मानव-जीवन में लाग बड़े महत्व की वस्तु है। जिसमें लाग है, वह बूढ़ा भी हो, तो जवान है; जिसमें लाग नहीं, गौरव नहीं, वह जवान भी हो, तो मृतक है। सुजान भगत में लाग थी और उसी ने उन्हें अमानुषीय बल प्रदान कर दिया था। चलते समय उन्होंने भोला

की ओर सगर्व नेत्रों से देखा और बोले—ये भाट और भिक्षुक खड़े हैं, कोई खाली हाथ न लौटने पाये।

भोला सिर झुकाये खड़ा था। उसे कुछ बोलने का हौसला न हुआ। वृद्ध पिता ने उसे परास्त कर दिया था।

ममता

१

बाबू रामरक्षादास दिल्ली के एक ऐश्वर्यशाली खत्री थे, बहुत ही ठाट-बाट से रहनेवाले। बड़े-बड़े अमीर उनके यहाँ नित्य आते-जाते थे। वे आये हुओं का आदर-सत्कार ऐसे अच्छे ढंग से करते थे कि इस बात की धूम सारे मुहल्ले में थी। नित्य उनके दरवाजे पर किसी-न किसी बहाने से इष्ट-मित्र एकत्र हो जाते, टेनिस खेलते, ताश उड़ता, हरमोनियम के मधुर स्वरों से जी बहलाते, चाय-पानी से हृदय प्रफुल्लित करते, अधिक और क्या चाहिये? जाति की ऐसी अमूल्य सेवा कोई छोटी बात नहीं है। नीची जातियों के सुधार के लिए दिल्ली में एक सोसायटी थी। बाबू साहब उसके सेक्रेटरी थे। और इस कार्य को असाधारण उत्साह से पूर्ण करते थे। जब उनका बूढ़ा कहार बीमार हुआ और क्रिश्चियन-मिशन के डाक्टरों ने उसकी शुश्रूषा जब शुरू की विधवा स्त्री ने निर्वाह की कोई आशा न देखकर क्रिश्चियन-समाज का आश्रय लिया, तब इन दोनों अवसरों पर बाबू साहब ने शोक के रेज्यूलेशन पास किये। संसार जानता है कि सेक्रेटरी का काम सभाएँ करना और रेज्यूलेशन बनाना है। इससे अधिक वह कुछ नहीं कर सकता।

मिस्टर रामरक्षा का जातीय उत्साह यहीं तक सीमाबद्ध न था। वे सामाजिक कुप्रथाओं तथा अन्ध-विश्वास के प्रबल शत्रु थे। होली के दिनों में जब कि मुहल्ले मे चमार और कहार शराब से मतवाले होकर फाग गाते और डफ बजाते हुए निकलते, तो उन्हें बड़ा शोक होता। जाति की इस मूर्खता पर उनकी आँखों में आँसू भर आते और वे प्रायः इस कुरीति का निवारण अपने हण्टर से किया करते। उनके हण्टर में जाति-हितैषिता की उमंग उनकी वक्तृता से भी अधिक थी। यह उन्हीं के प्रशंसनीय प्रयत्न थे, जिन्होंने मुख्य होली के दिन

दिल्ली में हलचल मचा दी, फाग गाने के अपराध में हज़ारों आदमी पुलिस के पंजे में आ गये। सैकड़ों घरों में मुख्य होली के दिन मुहर्रम का-सा शोक फैल गया। इधर उनके दरवाजे पर हज़ारों पुरुष-स्त्रियाँ अपना दुखड़ा रो रही थीं। उधर बाबू साहब के हितैषी मित्रगण अपने उदारशील मित्र के सद्व्यवहार की प्रशंसा करते। बाबू साहब दिन भर में इतने रंग बदलते थे कि उस पर 'पेरिस' की परियों को भी ईर्ष्या हो सकती थी। कई बैंकों में उनके हिस्से थे। कई दूकानें थीं; किन्तु बाबू साहब को इतना अवकाश न था कि उनकी कुछ देख-भाल करते। अतिथि-सत्कार एक पवित्र धर्म है। वे सच्ची देश-हितैषिता की उमंग से कहा करते थे— अतिथि-सत्कार आदि काल से भारतवर्ष के निवासियों का एक प्रधान और सराहनीय गुण है। अभ्यागतों का आदर-सम्मान करने में हम अद्वितीय हैं। हम इसी से संसार में मनुष्य कहलाने योग्य हैं। हम सब कुछ खो बैठे हैं, किन्तु जिस दिन हममें यह गुण शेष न रहेगा, वह दिन हिन्दू-जाति के लिए लज्जा, अपमान और मृत्यु का दिन होगा।

मिस्टर रामरक्षा जातीय आवश्यकताओं से भी बेपरवाह न थे। वे सामाजिक और राजनीतिक कार्यों में पूर्णरूप से योग देते थे। यहाँ तक कि प्रतिवर्ष दो; बल्कि कभी-कभी तीन वक्तृताएँ अवश्य तैयार कर लेते। भाषणों की भाषा अत्यन्त उपयुक्त, ओजस्वी और सर्वांग-सुन्दर होती थी। उपस्थित जन और इष्टमित्र उनके एक-एक शब्द पर प्रशंसा सूचक शब्दों की ध्वनि प्रकट करते, तालियाँ बजाते, यहाँ तक कि बाबू साहब को व्याख्यान का क्रम स्थिर रखना कठिन हो जाता। व्याख्यान समाप्त होने पर उनके मित्र उन्हें गोद में उठा लेते और आश्चर्य-चकित होकर कहते—तेरी भाषा में जादू है। इससे उनकी इस उच्च और निःस्पृह समाज-सेवा पर हार्दिक धन्यवाद दे रहे थे। सारांश यह कि बाबू साहब का यह जातीय प्रेम और उद्योग केवल बनावटी, सहृदयताशून्य तथा फ़ैशनेबिल था। यदि उन्होंने किसी सदुपयोग में भाग लिया था, तो वह सम्मिलित कुटुम्ब का विरोध था। अपने पिता के देहान्त के पश्चात् वे अपनी विधवा मा से अलग हो गये थे। इस जातीय सेवा में उनकी स्त्री विशेष सहायक थी। विधवा मा अपने बेटे और बहू के साथ नहीं रह सकती। इससे बहू की स्वाधीनता में बिघ्न पड़ता है और स्वाधीनता में बिघ्न पड़ने से मन दुर्बल और

मस्तिष्क शक्तिहीन हो जाता है। बहू को जलाना और कुढ़ाना सास की आदत है। इसलिए बाबू रामरक्षा अपनी मा से अलग हो गये। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने मातृऋण का विचार करके दस हजार रुपये अपनी मा के नाम जमा कर दिये कि उसके ब्याज से उसका निर्वाह होता रहे; किन्तु बेटे के इस उत्तम आचरण पर मा का दिल ऐसा टूटा कि वह दिल्ली छोड़कर अयोध्या जा रही तबसे वहीं रहती है। बाबू साहब कभी-कभी मिसेज रामरक्षा से छिपकर उससे मिलने अयोध्या जाया करते थे, किन्तु वह दिल्ली आने का कभी नाम न लेतीं। हाँ, यदि कुशल-क्षेम की चिट्ठी पहुँचने में कुछ देर हो जाती, तो विवश होकर समाचार पूछ लेती थी।

२

उसी महल्ले में एक सेठ गिरधारीलाल रहते थे। उनका लाखों का लेन-देन था। वे हीरे और रत्नों का व्यापार करते थे। बाबू रामरक्षा के दूर के नाते में साढ़ू होते थे। पुराने ढंग के आदमी थे—प्रातः काल यमुना-स्नान करनेवाले तथा गाय को अपने हाथों से झाड़ने-पोंछनेवाले! उनसे मिस्टर रामरक्षा का स्वभाव न मिलता था; परन्तु जब कभी रुपयों की आवश्यकता होती, तो वे सेठ गिरधारीलाल के यहाँ से बे खटके मँगा लिया करते। आपस का मामला था, केवल चार अँगुल के पत्र पर रुपया मिल जाता था, न कोई दस्तावेज़, न स्टाम्प, न साक्षियों की आवश्यकता। मोटरकार के लिए दस हजार की आवश्यकता हुई, वह वहाँ से आया। घुड़दौड़ के लिए एक आस्ट्रेलियन घोड़ा डेढ़ हजार में लिया। उसके लिए भी रुपया सेठजी के यहाँ से आया। धीरे-धीरे कोई बीस हज़ार का मामला हो गया। सेठजी सरल हृदय के आदमी थे। समझते थे कि उसके पास दूकानें हैं। बैंकों में रुपया है। जब जी चाहेगा, रुपया वसूल कर लेंगे, किन्तु जब दो-तीन वर्ष व्यतीत हो गये और सेठजी के तकाजों के अपेक्षा मिस्टर रामरक्षा की माँग ही का आधिक्य रहा, तो गिरधारीलाल को सन्देह हुआ। वह एक दिन रामरक्षा के मकान पर आये और सभ्य-भाव से बोले—भाई साहब, मुझे एक हुण्डी का रुपया देना है, यदि आप मेरा हिसाब कर दें तो बहुत अच्छा हो। यह कहकर हिसाब के काग़ज़ात और उनके पत्र दिखलाये। मिस्टर रामरक्षा किसी गार्डनपार्टी में सम्मिलित होने के

लिए तैयार थे। बोले—इस समय क्षमा कीजिए। फिर देख लूँगा, जल्दी क्या है?

गिरधारीलाल को बाबू साहब की रुखाई पर क्रोध आ गया। वे रुष्ट होकर बोले—आपको जल्दी नहीं है, मुझे तो है? दो सौ रुपये मासिक की मेरी हानि हो रही है। मिस्टर रामरक्षा ने असन्तोष प्रकट करते हुए घड़ी देखी। पार्टी का समय बहुत करीब था। वे बहुत विनीत भाव से बोले—भाई साहब, मैं बड़ी जल्दी में हूँ। इस समय मेरे ऊपर कृपा कीजिए, मैं कल स्वयं उपस्थित हूँगा।

सेठजी एक माननीय और धन-सम्पन्न आदमी थे। वे रामरक्षा के इस कुरुचिपूर्ण व्यवहार पर जल गये। मैं इनका महाजन, इनसे धन में, मान में, ऐश्वर्य में बढ़ा हुआ, चाहूँ तो ऐसों को नौकर रख लूँ, इनके दरवाजे पर आऊँ और आदर-सत्कार की जगह उलटे ऐसा रूखा बर्ताव! वह हाथ बाँधे मेरे सामने न खड़ा रहे; किन्तु क्या मैं पान इलायची, इत्र आदि से भी सम्मान करने के योग्य नहीं? वे तनकर बोले—अच्छा, तो कल हिसाब साफ़ हो जाय।

रामरक्षा ने अकड़कर उत्तर दिया—हो जायगा।

रामरक्षा के गौरवशील हृदय पर सेठजी के इस बर्ताव का प्रभाव कुछ कम खेदजनक न हुआ। इस काठ के कुन्दे ने आज मेरी प्रतिष्ठा धूल में मिला दी वह मेरा अपमान कर गया। अच्छा, तुम भी इसी दिल्ली में रहते हो और हम भी यहीं हैं। निदान दोनों में गाँठ पड़ गई। बाबू साहब की तबीयत ऐसी गिरी और हृदय में ऐसी चिन्ता उत्पन्न हुई की पार्टी में जाने का ध्यान जाता रहा। वे देर तक इसी उलझन में पड़े रहे। फिर सूट उतार दिया और सेवक से बोले—जा, मुनीमजी को बुला ला। मुनीमजी आये। उनका हिसाब देखा गया, फिर बैंकों का एकाउण्ट देखा; किन्तु ज्यों-ज्यों इस घाटी में उतरते गये, त्यों-त्यों अँधेरा बढ़ता गया। बहुत कुछ टटोला, कुछ हाथ न आया। अन्त में निराश होकर वे आराम-कुर्सी पर पड़ गये और उन्होंने एक ठण्डी साँस ले ली। दूकानों का माल बिका; किन्तु रुपया बकाया में पड़ा हुआ था। कई ग्राहकों की दूकानें टूट गईं और उन पर जो नकद रुपया बकाया था, वह डूब गया। कलकत्ते के अढ़तियों से जो माल मँगाया था, रुपये चुकाने की तिथि सिर पर आ पहुँची और यहाँ रुपया वसूल न हुआ। दूकानों का यह हाल, बैंकों का इससे भी बुरा।

रातभर वे इन्हीं चिन्ताओं में करवटें बदलते रहे। अब क्या करना चाहिए! गिरधारीलाल सज्जन पुरुष है। यदि सारा कच्चा हाल उसे सुना दूँ तो अवश्य मान जायगा; किन्तु यह कष्टप्रद कार्य होगा कैसे! ज्यों-ज्यों प्रातःकाल समीप आता था; त्यों-त्यों उनका दिल बैठा जाता था। कच्चे विद्यार्थी की जो दशा परीक्षा के सन्निकट आने पर होती है, वही हाल इस समय रामरक्षा का था। वे पलँग से न उठे। मुँह-हाथ भी न धोया, खाने की कौन कहे। इतना जानते थे कि दुःख पड़ने पर कोई किसी का साथी नहीं होता, इसलिए एक आपत्ति से बचने के लिए कई आपत्तियों का बोझा न उठाना पड़े। मित्रों को इन मामलों की ख़बर तक न दी। जब दोपहर हो गया और उनकी दशा ज्यों-की-त्यों रही तो उनका छोटा लड़का बुलाने आया। उसने बाप का हाथ पकड़कर कहा—

लालाजी, आज काने क्यों नहीं तलते?

रामरक्षा—भूख नहीं है।

क्या काया है?

मन की मिठाई।

और क्या काया है?

मार।

किसने मारा?

गिरधारीलाल ने।

लड़का रोता हुआ घर में गया और इस मार की चोट से देर तक रोता रहा। अन्त में तश्तरी में रखी हुई दूध की मलाई ने उसकी इस चोट पर मरहम का काम दिया।

३

रोगी को जब जीने की आशा नहीं रहती, तो औषधि छोड़ देता है। मिस्टर रामरक्षा जब इस गुत्थी को न सुलझा सके, तो चादर तान ली और मुँह लपेटकर सो रहे। शाम को एकाएक उठकर सेठजी के यहाँ जा पहुँचे और कुछ असावधानी से बोले—

महाशय! मैं आपका हिसाब नहीं कर सकता।

सेठजी घबराकर बोले—क्यों?

रामरक्षा—इसलिए कि मैं इस समय दरिद्र-निहङ्ग हूँ। मेरे पास एक कौड़ी भी नहीं है। आप अपना रुपया जैसे चाहें, वसूल कर लें।

सेठ—यह आप कैसी बातें कहते हैं?

रामरक्षा—बहुत सच्ची।

सेठ—दूकानें नहीं हैं?

रामरक्षा—दूकानें आप मुफ्त ले जाइए।

सेठ—बैंक के हिस्से?

रामरक्षा—वह कबके उड़ गये।

सेठ—जब यह हाल था, तो आपको उचित नहीं था कि मेरे गले पर छुरी फेरते?

रामरक्षा—(अभिमान से) मैं आपके यहाँ उपदेश सुनने के लिए नहीं आया हूँ।

यह कहकर मिस्टर रामरक्षा वहाँ से चल दिये। सेठजी ने तुरन्त नालिश कर दी। बीस हजार मूल, पाँच हजार ब्याज। डिगरी हो गई। मकान नीलाम पर चढ़ा। पन्द्रह हजार की जायदाद पाँच हजार में निकल गई। दस हजार की मोटर चार हजार में बिकी। सारी सम्पत्ति उड़ जाने पर कुल मिलाकर सोलह हजार से अधिक रकम न खड़ी हो सकी। सारी गृहस्थी नष्ट हो गई, तब भी दस हजार के ऋणी रह गये। मान-बड़ाई, धन-दौलत, सब मिट्टी में मिल गये। बहुत तेज दौड़नेवाला मनुष्य प्रायः मुँह के बल गिर पड़ता है।

४

इस घटना के कुछ दिनों पश्चात् दिल्ली म्युनिसिपैलिटी के मेम्बरों का चुनाव आरम्भ हुआ। इस पद के अभिलाषी वोटरों की पूजाएँ करने लगे। दलालों के भाग्य उदय हुए। सम्मतियाँ मोतियों के तोल बिकने लगीं। उम्मेदवार मेम्बरों के सहायक अपने-अपने मुवक्किल के गुणगान करने लगे। चारों ओर चहल-पहल मच गई। एक वकील महाशय ने भरी सभा में मुवक्किल साहब के विषय में कहा—

मैं जिस बुजुरग का पैरोकार हूँ वह कोई मामूली आदमी नहीं है। यह

वह शख्स है जिसने फ़रजन्द अकबर की शादी में पचीस हजार रुपया सिर्फ रक्स व सरूर में सर्फ कर दिया था।

उपस्थित जनों में प्रशंसा की उच्चध्वनि हुई।

एक दूसरे महाशय ने अपने मुहाल के वोटरों के सम्मुख मुवक्किल की प्रशंसा यों की—

मैं यह नहीं कह सकता कि आप सेठ गिरधारीलाल को अपना मेम्बर बनाइए। आप अपना भला-बुरा स्वयं समझते हैं, और यह भी नहीं है कि सेठजी मेरे द्वारा अपनी प्रशंसा के भूखे हों। मेरा निवेदन केवल यही है कि आप जिसे मेम्बर बनायें, पहले उसके गुणदोषों का भली भाँति परिचय ले लें। दिल्ली में केवल एक मनुष्य है जो गत १० वर्षों से आपकी सेवा कर रहा है। केवल एक आदमी है कि जिसने पानी पहुँचाने और स्वच्छता-प्रबन्धों में हार्दिक धर्म-भाव से सहायता दी है। केवल एक पुरुष है जिसको श्रीमान् वायसराय के दरबार में कुर्सी पर बैठने का अधिकार प्राप्त है और आप सब महाशय उसे जानते हैं।

उपस्थित जनों ने तालियाँ बजाईं।

सेठ गिरधारीलाल के महल्ले में उनके एक प्रतिवादी थे। नाम था मुंशी फैजुल-रहमान खाँ। बड़े जमींदार और प्रसिद्ध वकील थे। बाबू रामरक्षा ने अपनी दृढ़ता, साहस, बुद्धिमत्ता और मृदु भाषण से मुंशीजी साहब की सेवा करनी आरम्भ की। सेठजी को परास्त करने का यह अपूर्व अवसर हाथ आया। वे रात और दिन इसी धुन में लगे रहते। उनकी मीठी और रोचक बातों का प्रभाव उपस्थित जनों पर बहुत ही अच्छा पड़ता। एक बार आपने असाधारण श्रद्धा-उमंग में आकर कहा—मैं डंके की चोट कहता हूँ कि मुंशी फैजुलरहमान से अधिक योग्य आदमी आपको दिल्ली में न मिल सकेगा। यह वह आदमी है जिसकी गजलों पर कविजनों में वाह-वाह मच जाती है। ऐसे श्रेष्ठ आदमी की सहायता करना मैं अपना जातीय और सामाजिक धर्म समझता हूँ। अत्यन्त शोक का विषय है कि बहुत-से लोग इस जातीय और पवित्र काम को व्यक्तिगत लाभ का साधन बनाते हैं। धन और वस्तु है, श्रीमान् वायसराय के दरबार में प्रतिष्ठित होना और वस्तु; किन्तु सामाजिक सेवा, जातीय चाकरी और ही चीज है। वह मनुष्य जिसका जीवन ब्याज प्राप्ति, बेईमानी, कठोरता तथा

निर्दयता और सुख विलास में व्यतीत होता हो, वह इस सेवा के योग्य कदापि नहीं है।

५

सेठ गिरधारीलाल इस अन्योक्ति-पूर्ण भाषण का हाल सुनकर क्रोध से आग हो गये। मैं बेईमान हूँ! ब्याज का धन खानेवाला हूँ! विषयी हूँ! कुशल हुई, जो तुमने मेरा नाम नहीं लिया; किन्तु अब भी तुम मेरे हाथ में हो, मैं अब भी तुम्हें जिस तरह चाहूँ, नचा सकता हूँ। खुशामदियों ने आग पर तेल डाला। इधर रामरक्षा अपने काम में तत्पर रहे। यहाँ तक कि 'वोटिंग डे' आ पहुँचा। मिस्टर रामरक्षा को उद्योग में बहुत कुछ सफलता प्राप्त हुई थी। आज वे बहुत प्रसन्न थे। आज गिरधारीलाल को नीचा दिखाऊँगा। आज उसको जान पड़ेगा कि धन संसार के सब पदार्थों को इकठ्ठा नहीं कर सकता, जिस समय फैजुलरहमान के वोट अधिक निकलेंगे और मैं तालियाँ बजाऊँगा, उस समय गिरधारीलाल का चेहरा देखने योग्य होगा। मुँह का रंग बदल जायगा, हवाइयाँ उड़ने लगेंगी, आँखें न मिला सकेगा। शायद फिर मुझे मुँह न दिखा सके। इन्हीं विचारों में मग्न रामरक्षा शाम को टाउन-हाल में पहुँचे। उपस्थित सभ्यों ने बड़ी उमंग के साथ उनका स्वागत किया। थोड़ी देर बाद 'वोटिङ्ग' आरम्भ हुआ। मेम्बरी मिलने की आशा रखनेवाले महानुभाव अपने-अपने भाग्य का अन्तिम फल सुनने के लिए आतुर हो रहे थे। छः बजे चेयरमैन ने फैसला सुनाया। सेठजी की हार हो गई। फैजुल-रहमान ने मैदान मार लिया। रामरक्षा ने हर्ष के आवेग में टोपी हवा में उछाल दी और वे स्वयं भी कई बार उछल पड़े। महल्लेवालों को अचम्भा हुआ। चाँदनी-चौक से सेठजी को हटाना मेरु को स्थान से उखाड़ना था। सेठजी के चेहरे से रामरक्षा को जितनी आशाएँ थीं, वे सब पूरी हो गईं। उनका रंग फीका पड़ गया था। वे खेद और लज्जा की मूर्ति बने हुए थे। एक वकील साहब ने उनसे सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा—'सेठजी, मुझे आपकी हार का बहुत बड़ा शोक है मैं जानता कि खुशी के बदले रंज होगा, तो कभी यहाँ न आता। मैं तो केवल आपके ख्याल से यहाँ आया था।' सेठजी ने बहुत रोकना चाहा, परन्तु आँखों में आँसू डबडबा ही गये। वे

निःस्पृह बनने का व्यर्थ प्रयत्न करके बोले—'वकील साहब; मुझे इसकी कुछ चिन्ता नहीं। कौन रियासत निकल गई? व्यर्थ उलझन, चिन्ता तथा झंझट रहती थी। चलो, अच्छा हुआ। गला छूटा। अपने काम में हरज होता था। सत्य कहता हूँ, मुझे तो हृदय से प्रसन्नता ही हुई। यह काम तो बेकामवालों के लिए है, घर न बैठे रहे, यही बेगार की। मेरी मूर्खता थी कि मैं इतने दिनों तक आँखें बन्द किये बैठा रहा।' परन्तु सेठजी की मुखाकृति ने इन विचारों का प्रमाण न दिया। मुखमण्डल हृदय का दर्पण है, इसका निश्चय अलबत्ता हो गया।

किन्तु बाबू रामरक्षा बहुत देर तक इस आनन्द का मजा न लूटने पाये और न सेठजी को बदला लेने के लिए बहुत देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। सभा विसर्जित होते ही जब बाबू रामरक्षा सफलता के उमंग में ऐंठते, मोंछ पर ताव देते और चारों ओर गर्व की दृष्टि डालते हुए बाहर आये, तो दीवानी के तीन सिपाहियों ने आगे बढ़कर उन्हें गिरफ्तारी का वारण्ट दिखा दिया। अबकी बाबू रामरक्षा के चेहरे का रंग उतर जाने की और सेठजी के इस मनोवांछित दृश्य से आनन्द उठ आने की बारी थी। गिरधारीलाल ने आनन्द की उमंग में तालियाँ तो न बजाईं; परन्तु मुस्कुराकर मुँह फेर लिया। रङ्ग में भङ्ग पड़ गया।

आज इस विषय के उपलक्ष्य में मुंशी फैजुलरहमान ने पहले ही से एक बड़े समारोह के साथ गार्डनपार्टी की तैयारियाँ की थीं। मिस्टर रामरक्षा इसके प्रबन्धकर्त्ता थे। आज की 'आफ्टर डिनर' स्पीच उन्होंने बड़े परिश्रम से तैयार की थी; किन्तु इस वारंट ने सारी कामनाओं का सत्यानाश कर दिया। यों तो बाबू साहब के मित्रों में ऐसा कोई भी न था जो दस हज़ार रुपये की ज़मानत दे देता, अदा कर देने का तो ज़िक्र ही क्या, कदाचित् ऐसा होता भी तो सेठजी अपने को भाग्यहीन समझते। दस हजार रुपया और म्युनिसिपैलिटी की प्रतिष्ठित मेम्बरी खोकर उन्हें इस समय यह हर्ष प्राप्त हुआ था।

मिस्टर रामरक्षा के घर पर ज्यों ही यह खबर पहुँची, कुहराम मच गया। उनकी स्त्री पछाड़ खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। जब कुछ होश में आई तो रोने लगी, और रोने से छुट्टी मिली तो उसने गिरधारीलाल को कोसना आरम्भ

किया। देवी-देवता मनाने लगी। उन्हें रिशवतें देने पर तैयार हुई कि वे गिरधारीलाल को किसी प्रकार निगल जायँ। इस बड़े भारी काम में वह गंगा और यमुना से सहायता माँग रही थी, प्लेग और विसूचिका की खुशामदें कर रही थी कि ये दोनों मिलकर इस गिरधारीलाल को हड़प ले जायँ; किन्तु गिरधारी का कोई दोष नहीं। दोष तुम्हारा है। बहुत अच्छा हुआ! तुम इस पूजा के देवता थे। क्या अब दावतें न खिलाओगे? मैंने तुम्हें कितना समझाया, रोई, रूठी, बिगड़ी किन्तु तुमने एक न सुनी। गिरधारीलाल ने बहुत अच्छा किया। तुम्हें शिक्षा तो मिल गई; किन्तु तुम्हारा भी दोष नहीं। यह सब आग मैंने लगाई है। मलमली स्लीपरों के बिना मेरे पाँव नहीं उठते थे। बिना जड़ाऊ कड़ों के मुझे नींद न आती थी। सेजगाड़ी मेरे ही लिए मँगवाई गई। अँगरेजी पढ़ने के लिए मेम साहबा को मैंने ही रखा। ये सब काँटे मैंने ही बोये हैं।

मिसेज़ रामरक्षा बहुत देर तक इन्हीं विचारों में डूबी रही। जब रात भर करवटें बदलने के बाद वह सबेरे उठी, तो उसके विचार चारों ओर से ठोकरें खाकर केवल एक केन्द्र पर जम गये। गिरधारीलाल बड़ा बदमाश और घमंडी है। मेरा सब कुछ लेकर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। इतना भी उस निर्दयी कसाई से न देखा गया। भिन्न-भिन्न प्रकार के विचारों ने मिलकर एक रूप धारण किया और क्रोधाग्नि को दहकाकर प्रबल कर दिया। ज्वालामुखी शीशे में जब सूर्य की किरणें एक होती हैं तब अग्नि प्रकट हो जाती है। इस स्त्री के हृदय में रहकर क्रोध की एक असाधारण लहर उत्पन्न होती थी। बच्चे ने मिठाई के लिए हठ किया, इसपर बरस पड़ी। महरी ने चौका-बरतन करके चूल्हे में आग जला दी, उसके पीछे पड़ गई—मैं तो अपने दुःखों को रो रही हूँ, इस चुड़ैल को रोटियों की धुन सवार है। निदान ६ बजे उससे न रहा गया। उसने यह पत्र लिखकर अपने हृदय की ज्वाला ठंढी की।

"सेठजी, तुम्हें अब अपने धन के घमंड ने अन्धा कर दिया है, किन्तु किसी का घमण्ड इसी तरह सदा नहीं रह सकता। कभी-न-कभी सिर अवश्य नीचा होता है। अफसोस कि कल शाम को जब तुमने मेरे प्यारे पति को पकड़वाया है, मैं वहाँ मौजूद न थी; नहीं तो अपना और तुम्हारा रक्त एक कर देती। तुम धन के मद में भूले हुए हो। मैं उसी दम तुम्हारा नशा उतार देती। एक

स्त्री के हाथों अपमानित होकर तुम फिर किसी को मुँह दिखाने लायक न रहते। अच्छा, इसका बदला तुम्हें किसी-न-किसी तरह जरूर मिल जायगा। मेरा कलेजा उस दिन ठण्ढा होगा जब तुम निर्वंश हो जाओगे और तुम्हारे कुल का नाम मिट जायगा।"

सेठजी पर यह फटकार पड़ी तो वे क्रोध से आग हो गये। यद्यपि क्षुद्र-हृदय के मनुष्य न थे, परन्तु क्रोध के आवेग में सौजन्य का चिन्ह भी शेष नहीं रहता। यह ध्यान न रहा कि यह एक दुःखिनी की क्रन्दन-ध्वनि है, एक सताई स्त्री की मानसिक दुर्बलता का विकार है। उसकी धन-हीनता और विवशता पर उन्हें तनिक भी दया न आई। वे मरे हुए को मारने का उपाय सोचने लगे।

६

इसके तीसरे दिन सेठ गिरधारीलाल पूजा के आसन पर बैठे हुए थे, महरा ने आकर कहा—सरकार, कोई स्त्री आपसे मिलने आई है। सेठजी ने पूछा—कौन स्त्री है? महरा ने कहा—सरकार, मुझे क्या मालूम, लेकिन है कोई भले-मानुस! रेशमी साड़ी पहने हुए है। हाथ में सोने के कड़े हैं। पैरों में टाट के स्लीपर हैं। बड़े घर की स्त्री जान पड़ती है।

यों साधारणतः सेठजी पूजा के समय किसी से नहीं मिलते थे। चाहे कैसा ही आवश्यक काम क्यों न हो, ईश्वरोपासना में सामाजिक बाधाओं को घुसने नहीं देते थे। किन्तु ऐसी दशा में जब कि बड़े घर की स्त्री मिलने के लिए आये, तो थोड़ी देर के लिए पूजा में विलम्ब करना निन्दनीय नहीं कहा जा सकता। ऐसा विचार करके वे नौकर से बोले—उन्हें बुला लाओ।

जब वह स्त्री आई तो सेठजी स्वागत के लिए उठकर खड़े हो गये। तत्पश्चात् अत्यन्त कोमल वचनों से कारुणिक शब्दों में बोले—माता, कहाँ से आना हुआ? और जब यह उत्तर मिला कि वह अयोध्या से आई है, तो आपने उसे फिर से दण्डवत् किया और चीनी तथा मिश्री से भी अधिक मधुर और नव-नीत से भी अधिक चिकने शब्दों में कहा—अच्छा, आप श्रीअयोध्याजी से आ रही हैं! उस नगरी का क्या कहना? देवताओं की पुरी है। बड़े भाग्य थे कि आपके दर्शन हुए। यहाँ आपका आगमन कैसे हुआ? स्त्री ने उत्तर दिया—घर तो मेरा यहीं है। सेठजी का मुख पुनः मधुरता का चित्र बना। वे बोले—

अच्छा, तो मकान आपका इसी शहर में है। तो आपने माया-जंजाल को त्य दिया? यह तो मैं पहले ही समझ गया था। ऐसी पवित्र आत्माएँ संसार बहुत थोड़ी हैं। ऐसी देवियों के दर्शन दुर्लभ होते हैं। आपने मुझे द दिया, बड़ी कृपा की। मैं इस योग्य नहीं, जो आप-जैसी विदुषियों की कुछ दे कर सकूँ; किन्तु जो काम मेरे योग्य हो—जो कुछ मेरे किये हो सकता हो उसके करने के लिए मैं सब भाँति से तैयार हूँ। यहाँ सेठ-साहूकारों ने मुझे ब बदनाम कर रखा है, मैं सबकी आँखों में खटकता हूँ। उसका कारण सिवा इ और कुछ नहीं कि जहाँ वे लोग लाभ पर ध्यान रखते हैं, वहाँ मैं भलाई ध्यान रखता हूँ। यदि कोई बड़ी अवस्था का वृद्ध मनुष्य मुझसे कुछ कहने-सु के लिए आता है, तो विश्वास मानो, मुझसे उसका वचन टाला नहीं जात कुछ बुढ़ापे का विचार; कुछ उसके दिल टूट जाने का डर; कुछ यह ख कि कहीं वह विश्वासघातियों के फन्दे में न फँस जाये, मुझे उसकी इच्छाओं पूर्ति के लिए विवश कर देता है। मेरा यह सिद्धान्त है कि अच्छी जाय और कम ब्याज; किन्तु इस प्रकार की बातें आपके सामने करना व्यर्थ आपसे तो घर का मामला है। मेरे योग्य जो कुछ काम हो उसके लिए मैं आँखों से तैयार हूँ।

वृद्ध स्त्री—मेरा काम आप ही से हो सकता है।

सेठजी—(प्रसन्न होकर) बहुत अच्छा—आज्ञा दो।

स्त्री—मैं आपके सामने भिखारिनी बनकर आई हूँ। आपको छोड़कर मेरा सवाल पूरा नहीं कर सकता।

सेठजी—कहिए, कहिए।

स्त्री—आप रामरक्षा को छोड़ दीजिए।

सेठजी के मुख का रंग उतर गया। सारे हवाई किले जो अभी-अभी तै हुए थे, गिर पड़े। वे बोले—उसने मेरी बहुत हानि की है। उसका घमंड डालूँगा, तब छोड़ूँगा।

स्त्री—तो क्या कुछ मेरे बुढ़ापे का, मेरे हाथ फैलाने का, कुछ अपनी ब का विचार न करोगे? बेटा, ममता बुरी होती है।" संसार से नाता टूट ज धन जाय, धर्म जाय; किन्तु लड़के का स्नेह हृदय से नहीं जाता। संतोष

कुछ कर सकता है ; किन्तु बेटे का प्रेम माँ के हृदय से नहीं निकल सकता। इस पर हाकिम का, राजा का, यहाँ तक कि ईश्वर का भी बस नहीं है। तुम मुझ पर तरस खाओ। मेरे लड़के की जान छोड़ दो, तुम्हें बड़ा यश मिलेगा। मैं जब तक जीऊँगी, तुम्हें आशीर्वाद देती रहूँगी।

सेठजी का हृदय कुछ पसीजा। पत्थर की तह में पानी रहता है; किंतु तत्काल ही उन्हें मिसेज़ रामरक्षा के पत्र का ध्यान आ गया। वे बोले—मुझे रामरक्षा से कोई उतनी शत्रुता नहीं थी। यदि उन्होंने मुझे न छेड़ा होता, तो मैं न बोलता। आपके कहने से मैं अब भी उनका अपराध क्षमा कर सकता हूँ; परंतु उनकी बीबी साहबा ने जो पत्र मेरे पास भेजा है, उसे देखकर शरीर में आग लग जाती है। दिखाऊँ आपको? रामरक्षा की माँ ने पत्र लेकर पढ़ा तो उनकी आँखों में आँसू भर आये। वे बोलीं—बेटा, उस स्त्री ने मुझे बहुत दुःख दिया है। उसने मुझे देश से निकाल दिया। उसका मिजाज और ज़बान उसके बस में नहीं, किन्तु इस समय उसने जो गर्व दिखाया है, उसका तुम्हें ख्याल नहीं करना चाहिए। तुम इसे भुला दो। तुम्हारा देश-देश में नाम है। यह नेकी तुम्हारे नाम को और भी फैला देगी। मैं तुमसे प्रण करती हूँ कि सारा समाचार रामरक्षा से लिखवाकर किसी अच्छे समाचार-पत्र में छपवा दूँगी। रामरक्षा मेरा कहना नहीं टालेगा। तुम्हारे इस उपकार को वह कभी न भूलेगा। जिस समय ये समाचार संवादपत्रों में छपेंगे उस समय हजारों मनुष्यों को तुम्हारे दर्शन की अभिलाषा होगी। सरकार में तुम्हारी बड़ाई होगी और मैं सच्चे हृदय से कहती हूँ कि शीघ्र ही तुम्हें कोई न कोई पदवी मिल जायगी। रामरक्षा की अँगरेजों से बहुत मित्रता है, वे उसकी बात कभी न टालेंगे।

सेठजी के हृदय में गुदगुदी पैदा हो गई। यदि इस व्यवहार से वह पवित्र और माननीय स्थान प्राप्त हो जाय—जिसके लिए हज़ारों खर्च किये, हज़ारों डालियाँ दीं, हज़ारों अनुनय-विनय की, हज़ारों खुशामदें कीं, खानसामों की झिड़कियाँ सहीं, बँगलों के चक्कर लगाये—तो इस सफलता के लिए ऐसे कई हज़ार मैं खर्च कर सकता हूँ। निस्संदेह मुझे इस काम में रामरक्षा से बहुत कुछ सहायता मिल सकती है ; किन्तु इन विचारों को प्रकट करने से क्या लाभ? उन्होंने कहा—माता, मुझे नाम-नमूद की बहुत चाह नहीं है। बड़ों ने कहा है—'नेकी

कर और दरिया में डाल।' मुझे तो आपकी बात का ख्याल है। पदवी मिले तो लेने से इन्कार नहीं, न मिले तो उसकी तृष्णा नहीं; परन्तु यह तो बताइए कि मेरे रुपयों का क्या प्रबन्ध होगा? आपको मालूम होगा कि मेरे दस हज़ार रुपये जाते हैं।

रामरक्षा की माँ ने कहा—तुम्हारे रुपये की ज़मानत मैं करती हूँ। यह देखो, बंगाल-बंक की पासबुक है उसमें मेरा दस हज़ार रुपया जमा है। उस रुपये से तुम रामरक्षा को कोई व्यवसाय करा दो। तुम उस दूकान के मालिक रहोगे, रामरक्षा को उसका मैनेजर बना देना। जब तक वह तुम्हारे कहे पर चले, तब तक निभाना। नहीं तो दुकान तुम्हारी है। मुझे उसमें से कुछ नहीं चाहिए। मेरी खोज-खबर लेनेवाला ईश्वर है। रामरक्षा अच्छी तरह रहे, इससे अधिक मुझे और कुछ न चाहिए। यह कहकर पासबुक सेठजी को दे दी। माँ के इस अथाह प्रेम ने सेठ जी को विह्वल कर दिया। पानी उबल पड़ा और पत्थर उसके नीचे ढक गया। ऐसे पवित्र दृश्य देखने के लिए जीवन में कम अवसर मिलते हैं। सेठजी के हृदय में परोपकार की एक लहर-सी उठी। उनकी आँखें डबडबा आईं। जिस प्रकार पानी के बहाव से कभी-कभी बाँध टूट जाता है; उसी प्रकार परोपकार की इस उमंग ने स्वार्थ और माया के बाँध को तोड़ दिया। वे पासबुक वृद्धा स्त्री को वापस देकर बोले—माता, यह अपनी किताब लो। मुझे अब अधिक लज्जित न करो। यह देखो, रामरक्षा का नाम बही से उड़ा देता हूँ। मुझे कुछ नहीं चाहिए, मैंने अपना सब कुछ पा लिया। आज तुम्हारा रामरक्षा तुमको मिल जायगा।

इस घटना के दो वर्ष उपरान्त टाउनहाल में फिर एक बड़ा जलसा हुआ। बैंड बज रहा था, झंडियाँ और ध्वजाएँ वायु-मण्डल में लहरा रही थीं। नगर के सभी माननीय पुरुष उपस्थित थे। लैंडो, फिटन और मोटरों से हाता भरा हुआ था। एकाएक मुश्की घोड़ों की एक फिटन ने हाते में प्रवेश किया। सेठ गिरधारीलाल बहुमूल्य वस्त्रों से सजे हुए उसमें से उतरे। उनके साथ एक फैशनेबुल नवयुवक अँगरेजी सूट पहने मुसकुराता हुआ उतरा। ये मिस्टर रामरक्षा थे। वे अब सेठजी की एक खास दूकान के मैनेजर हैं। केवल मैनेजर ही नहीं, किन्तु उन्हें मैनेजिंग प्रोप्राइटर समझना चाहिए। दिल्ली-दरबार में सेठजी को भी

रायबहादुर का पद मिला है। आज डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट नियमानुसार इसकी घोषणा करेंगे और नगर के माननीय पुरुषों की ओर से सेठजी को धन्यवाद देने के लिए यह बैठक हुई है। सेठजी की ओर से धन्यवाद का वक्तव्य मिस्टर रामरक्षा करेंगे। जिन लोगों ने उनकी वक्तृताएँ सुनी हैं, वे बहुत उत्सुकता से उस अवसर की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

बैठक समाप्त होने पर सेठजी रामरक्षा के साथ अपने भवन पर पहुँचे तो मालूम हुआ कि आज वही वृद्धा स्त्री उनसे फिर मिलने आई है। सेठजी दौड़कर रामरक्षा की माँ के चरणों से लिपट गये। उनका हृदय इस समय नदी की भाँति उमड़ा हुआ था।

'रामरक्षा ऐण्ड फ्रेंड्स' नामक चीनी बनाने का कारखाना बहुत उन्नति पर है। रामरक्षा अब भी उसी ठाट-बाट से जीवन व्यतीत कर रहे हैं; किन्तु पार्टियाँ कम देते हैं और दिनभर में तीन से अधिक सूट नहीं बदलते। वे अब उस पत्र को जो उनकी स्त्री ने सेठजी को लिखा था, संसार की एक बहुत अमूल्य वस्तु समझते हैं और मिसेज रामरक्षा को भी अब सेठजी के नाम मिटाने की अधिक चाह नहीं है। क्योंकि अभी हाल में जब लड़का पैदा हुआ था, तो मिसेज रामरक्षा ने अपना सुवर्ण-कंकण धाय को उपहार दिया और मनों मिठाई बाँटी थी।

यह सब हो गया; किन्तु वह बात जो अब होनी थी, वह न हुई। रामरक्षा की मा अब भी अयोध्या रहती है और अपनी पुत्रवधू की सूरत नहीं देखना चाहती।

———

सती

१

दो शताब्दियों से अधिक बीत गये हैं; पर चिन्ता देवी का नाम चला जाता है। बुन्देलखण्ड के एक बीहड़ स्थान में आज भी मंगलवार को सहस्रों स्त्री-पुरुष चिन्ता देवी की पूजा करने आते हैं। उस दिन यह निर्जन स्थान सोहाने गीतों से गूँज उठता है, टीले और टीकरे रमणियों के रंग-बिरंगे वस्त्रों से सुशोभित हो जाते हैं। देवी का मन्दिर एक बहुत ऊँचे टीले पर बना हुआ है। उसके कलश पर लहराती हुई लाल पताका बहुत दूर से दिखाई देती है। मंदिर इतना छोटा है कि उसमें मुश्किल से एक साथ दो आदमी समा सकते हैं। भीतर कोई प्रतिमा नहीं है, केवल एक छोटी-सी वेदी बनी हुई है। नीचे से मन्दिर तक पत्थर का जीना है। भीड़-भाड़ में धक्का खाकर कोई नीचे न गिर पड़े, इसलिए जीने के दोनों तरफ दीवार बनी हुई है। यहीं चिन्ता देवी सती हुई थीं; पर लोकरीति के अनुसार वह अपने मृत पति के साथ चिता पर नहीं बैठी थीं। उनका पति हाथ जोड़े सामने खड़ा था; पर वह उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखती थीं। वह पति के शरीर के साथ नहीं, उसकी आत्मा के साथ सती हुईं। उस चिता पर पति का शरीर न था, उसकी मर्यादा भस्मीभूत हो रही थी।

२

यमुना-तट पर कालपी एक छोटा-सा नगर है। चिन्ता उसी नगर के वीर बुन्देले की कन्या थी। उसकी माता उसकी बाल्यवस्था में ही परलोक सिधार चुकी थीं। उसके पालन-पोषण का भार पिता पर पड़ा। वह संग्राम का समय था, योद्धाओं को कमर खोलने की फुरसत न मिलती थी, वे घोड़े के पीठ पर भोजन करते और जीन ही पर झपकियाँ ले लेते थे। चिन्ता का बाल्यकाल

पिता के साथ समर-भूमि में कटा। बाप उसे किसी खोह या वृक्ष की आड़ में छिपाकर मैदान में चला जाता। चिन्ता निश्शंक भाव से बैठी हुई मिट्टी के किले बनाती और बिगाड़ती। उसके घरौंदे किले होते थे, उसकी गुड़ियाँ ओढ़नी न ओढ़ती थीं। वह सिपाहियों के गुड्डे बनाती और उन्हें रणक्षेत्र में खड़ा करती थी। कभी-कभी उसका पिता संध्या-समय भी न लौटता; पर चिन्ता को भय छू तक न गया था। निर्जन स्थान में भूखी-प्यासी रात-रात भर बैठी रह जाती। उसने नेवले और सियार की कहानियाँ कभी न सुनी थीं। वीरों के आत्मोत्सर्ग की कहानियाँ और वह भी योद्धाओं के मुँह से सुन-सुनकर वह आदर्शवादिनी बन गई थी।

एक बार तीन दिन तक चिन्ता को अपने पिता की खबर न मिली। वह एक पहाड़ की खोह में बैठी मन-ही-मन एक ऐसा किला बना रही थी जिसे शत्रु किसी भाँति जान न सके। दिन भर वह उसी किले का नक्शा सोचती और रात को उसी किले का स्वप्न देखती। तीसरे दिन संध्या-समय उसके पिता के कई साथियों ने आकर उसके सामने रोना शुरू किया। चिन्ता ने विस्मित होकर पूछा—दादाजी कहाँ हैं? तुम लोग क्यों रोते हो?

किसी ने इसका उत्तर न दिया। वे जोर से धाड़ें मार-मारकर रोने लगे। चिन्ता समझ गई कि उसके पिता ने वीर-गति पाई। उस तेरह वर्ष की बालिका की आँखों से आँसू की एक बूँद भी न गिरी, मुख जरा भी मलिन न हुआ, एक आह भी न निकली। हँसकर बोली—अगर उन्होंने वीर-गति पाई, तो तुम लोग रोते क्यों हो? योद्धाओं के लिए इससे बढ़कर और कौन मृत्यु हो सकती है? इससे बढ़कर उनकी वीरता का और क्या पुरस्कार मिल सकता है? यह रोने का नहीं, आनन्द मनाने का अवसर है।

एक सिपाही ने चिन्तित स्वर में कहा—हमें तुम्हारी चिन्ता है। तुम अब कहाँ रहोगी?

चिन्ता ने गम्भीरता से कहा—इसकी तुम कुछ चिन्ता न करो, दादा! मैं अपने बाप की बेटी हूँ। जो कुछ उन्होंने किया, वही मैं भी करूँगी। अपनी मातृभूमि को शत्रुओं के पंजे से छुड़ाने में उन्होंने प्राण दे दिये। मेरे सामने भी वही आदर्श है। जाकर अपने आदमियों को सँभालिए। मेरे लिए एक

घोड़े और हथियारों का प्रबन्ध कर दीजिए। ईश्वर ने चाहा, तो आप लोग मुझे किसी से पीछे न पायेंगे। लेकिन यदि मुझे पीछे हटते देखना तो तलवार के एक हाथ से इस जीवन का अन्त कर देना। यही मेरी आपसे विनय है। जाइए, अब विलम्ब न कीजिए।

सिपाहियों को चिन्ता के ये वीर-वचन सुनकर कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ। हाँ, उन्हें यह सन्देह अवश्य हुआ कि क्या यह कोमल बालिका अपने संकल्प पर दृढ़ रह सकेगी?

पाँच वर्ष बीत गये। समस्त प्रान्त में चिन्ता देवी की धाक बैठ गई। शत्रुओं के क़दम उखड़ गये। वह विजय की सजीव मूर्ति थी, उसे तीरों और गोलियों के सामने निश्शंक खड़ी देखकर सिपाहियों को उत्तेजना मिलती रहती थी। उसके सामने वे कैसे क़दम पीछे हटाते? जब कोमलांगी युवती आगे बढ़े, तो कौन पुरुष क़दम पीछे हटायेगा? सुन्दरियों के सम्मुख योद्धाओं की वीरता अजेय हो जाती है। रमणी के वचन-बाण योद्धाओं के लिए आत्मसमर्पण के गुप्त सन्देश हैं; उसकी एक चितवन कायरों में भी पुरुषत्व प्रवाहित कर देती है। चिंता की छवि और कीर्ति ने मनचले सूरमों को चारों ओर से खींच-खींचकर उसकी सेना को सजा दिया; जान पर खेलनेवाले भौंरे चारों ओर से आ-आकर इस फूल पर मँडराने लगे। इन्हीं योद्धाओं में रत्नसिंह नाम का एक राजपूत भी था।

यों तो चिन्ता के सैनिकों में सभी तलवार के धनी थे। बात पर जान देने-वाले, उसके इशारे पर आग में कूदनेवाले, उसकी आज्ञा पाकर एक बार आकाश के तारे तोड़ लाने को भी चल पड़ते; किन्तु रत्नसिंह सबसे बढ़ा हुआ था। चिन्ता भी हृदय में उससे प्रेम करती थी। रत्नसिंह अन्य वीरों की भाँति अक्खड़ मुँहफट या घमंडी न था। और लोग अपनी-अपनी कीर्ति का खूब बढ़ा-बढ़ाकर बखान करते। आत्म-प्रशंसा करते हुए उनकी ज़बान न रुकती थी। वे जो कुछ करते, चिंता को दिखाने के लिए। उनका ध्येय अपना कर्तव्य न थी, चिन्ता थी। रत्नसिंह जो कुछ करता, शांत भाव से। अपनी प्रशंसा करना तो दूर रहा, वह चाहे कोई शेर ही क्यों न मार आये, उसकी चर्चा तक न करता। उसकी विनयशीलता और नम्रता संकोच की सीमा से भी बढ़ गई थी। औरों के प्रेम में विलास था; पर रत्नसिंह के प्रेम में त्याग और तप। और लोग मीठी नींद

सोते थे ; पर रत्नसिंह तारे गिन-गिनकर रात काटता था। और सब अपने दिल में समझते थे कि चिन्ता मेरी होगी, केवल रत्नसिंह निराश था और इसलिए उसे किसीसे न द्वेष था, न राग। औरों को चिन्ता के सामने चहकते देखकर उसे उनकी वाक्पटुता पर आश्चर्य होता। प्रतिक्षण उसका निराशान्धकार और भी घना होता जाता था। कभी-कभी वह अपने बोदेपन पर झुँझला उठता—क्यों ईश्वर ने उसे उन गुणों से वंचित रक्खा जो रमणियों के चित्त को मोहित करते हैं? उसे कौन पूछेगा? उसकी मनोव्यथा को कौन जानता है? पर वह मन में झुँझलाकर रह जाता था। दिखावे की उसमें सामर्थ्य ही न थी।

आधी से अधिक रात बीत चुकी। चिन्ता अपने खीमे में विश्राम कर रही थी। सैनिकगण भी कड़ी मंज़िल मारने के बाद कुछ खा-पीकर ग़ाफ़िल पड़े हुए थे। आगे एक घना जंगल था। जंगल के उस पार शत्रुओं का एक दल घेरा डाले पड़ा था। चिन्ता उसके आने की ख़बर पाकर भागाभाग चली आ रही थी। उसने प्रातःकाल शत्रुओं पर धावा करने का निश्चय कर लिया। उसे विश्वास था कि शत्रुओं को मेरे आने की खबर न होगी ; किन्तु यह उसका भ्रम था। उसीकी सेना का एक आदमी शत्रुओं से मिला हुआ था। यहाँ की खबरें वहाँ नित्य पहुँचती रहती थीं ; उन्होंने चिन्ता से निश्चिन्त होने के लिए एक षड्यंत्र रच रखा था—उसकी गुप्त हत्या करने के लिए तीन साहसी सिपाहियों को नियुक्त कर दिया था। वे तीनों हिंस्र पशुओं की भाँति दबे पाँव जंगल को पार करके आये और वृक्षों की आड़ में खड़े होकर सोचने लगे कि चिन्ता का खीमा कौन-सा है। सारी सेना बेखबर सो रही थी, इससे उन्हें अपने कार्य की सिद्धि में लेश-मात्र सन्देह न था। वे वृक्षों की आड़ से निकले और ज़मीन पर मगर की तरह रेंगते हुए चिन्ता के ख़ीमे की ओर चले।

सारी सेना बेख़बर सोती थी, पहरे के सिपाही थककर चूर हो जाने के कारण निद्रा में मग्न हो गये। केवल एक प्राणी ख़ीमे के पीछे मारे ठंढ के सिकुड़ा हुआ बैठा था। यह रत्नसिंह था। आज उसने यह कोई नयी बात न की थी। पड़ावों में उसकी रातें इसी भाँति चिन्ता के खीमे के पीछे बैठे-बैठे कटती थीं। घातकों की आहट पाकर उसने तलवार निकाल ली और चौंककर खड़ा हुआ। देखा, तीन आदमी झुके हुए चले आ रहे हैं। अब क्या करे? अगर शोर मचाता

है, तो सेना में खलबली पड़ जाय और अँधेरे में लोग एक दूसरे पर वार करके आपस ही में कट मरें। इधर अकेले तीन जवानों से भिड़ने में प्राणों का भय। अधिक सोचने का मौका न था। उस में योद्धाओं की अविलम्ब निश्चय कर लेने की शक्ति थी। तुरन्त तलवार खींच ली और उन तीनों पर टूट पड़ा। कई मिनट तक तलवारें छपाछप चलती रहीं। फिर सन्नाटा हो गया। उधर वे तीनों आहत होकर गिर पड़े, इधर यह भी ज़ख्मों से चूर होकर अचेत हो गया।

प्रातःकाल चिन्ता उठी, तो चारों जवानों को भूमि पर पड़े पाया। उसका कलेजा धक्-से हो गया। समीप जाकर देखा, तीनों आक्रमणकारियों के प्राण निकल चुके थे; पर रत्नसिंह की साँस चल रही थी। सारी घटना समझ में आ गई। नारीत्व ने वीरत्व पर विजय पाई। जिन आँखों से पिता की मृत्यु पर आँसू की एक बूँद भी न गिरी थी, उन्हीं आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। उसने रत्नसिंह का सिर अपनी जाँघ पर रख लिया और हृदयांगण में रचे हुए स्वयम्बर में उसके गले में जयमाल डाल दी।

३

महीने-भर न रत्नसिंह की आँखें खुलीं, न चिन्ता की आँखें बन्द हुईं। चिन्ता उसके पास से एक क्षण के लिए भी कहीं न जाती। न इलाके की परवा थी, न शत्रुओं के बढ़ते चले आने की फ़िक्र। रत्नसिंह पर वह अपनी सारी विभूतियों को बलिदान कर चुकी थी। पूरा महीना बीत जाने के बाद रत्नसिंह की आँखें खुलीं। देखा, चारपाई पर पड़ा है और चिन्ता सामने पंखा लिये खड़ी है। क्षीण स्वर में बोला—चिन्ता, पंखा मुझे दे दो। तुम्हें कष्ट हो रहा है।

चिन्ता का हृदय इस समय स्वर्ग के अखंड, अपार सुख का अनुभव कर रहा था। एक महीना पहले जिस शीर्ण शरीर के सिरहाने बैठी हुई नैराश्य से रोया करती थी, उसे आज बोलते देखकर उसके आह्लाद का पारावार न था। उसने स्नेह-मधुर स्वर में कहा—प्राणनाथ, यदि यह कष्ट है, तो सुख क्या है, मैं नहीं जानती। "प्राणनाथ" इस सम्बोधन में विलक्षण मन्त्र की-सी शक्ति थी। रत्नसिंह की आँखें चमक उठीं। जीर्ण मुद्रा प्रदीप्त हो गई, नसों में एक नये जीवन का संचार हो गया और वह जीवनी कितना स्फूर्तिमय था; उसमें कितना उत्साह, कितना माधुर्य, कितना उल्लास और कितना करुणा थी! रत्नसिंह के

अंग-अंग फड़कने लगे। उसे अपनी भुजाओं में अलौकिक पराक्रम का अनुभव होने लगा। ऐसा जान पड़ा, मानो वह सारे संसार को सर कर सकता है, उड़कर आकाश पर पहुँच सकता है, पर्वतों को चीर सकता है। एक क्षण के लिए उसे ऐसी तृप्ति हुई मानो उसकी सारी अभिलाषाएँ पूरी हो गई हैं, मानो वह अब किसी से कुछ नहीं चाहता; शायद शिव को सामने खड़े देखकर भी वह मुँह फेर लेगा, कोई वरदान न माँगेगा। उसे अब किसी ऋद्धि की, किसी पदार्थ की इच्छा न थी। उसे गर्व हो रहा था, मानो उससे अधिक सुखी, उससे अधिक भाग्यशाली पुरुष संसार में और कोई न होगा।

चिन्ता अभी अपना वाक्य पूरा न कर पाई थी। उसी प्रसंग में बोली—हाँ, आपको मेरे कारण अलबत्ता दुस्सह यातना भोगनी पड़ी!

रत्नसिंह ने उठने की चेष्टा करके कहा—बिना तप के सिद्धि नहीं मिलती!

चिन्ता ने रत्नसिंह को कोमल हाथों से लिपटाते हुए कहा—इस सिद्धि के लिए तुमने तपस्या नहीं की थी। झूठ क्यों बोलते हो? तुम केवल एक अबला की रक्षा कर रहे थे। यदि मेरी जगह कोई दूसरी स्त्री होती, तो भी तुम इतने ही प्राण-पण से उसकी रक्षा करते। मुझे इसका विश्वास है। मैं तुमसे सत्य कहती हूँ, मैंने आजीवन ब्रह्मचारिणी रहने का प्रण कर लिया था; लेकिन तुम्हारे आत्मोत्सर्ग ने मेरे प्रण को तोड़ डाला। मेरा पालन योद्धाओं की गोद में हुआ; मेरा हृदय उसी पुरुषसिंह के चरणों पर अर्पण हो सकता है, जो प्राणों की बाजी खेल सकता हो। रसिकों के हास-विलास, गुण्डों के रूप-रंग और फिकैतों के दाँव-घात का मेरी दृष्टि में रत्ती-भर भी मूल्य नहीं। उनकी नट-विद्या को मैं केवल तमाशे की तरह देखती हूँ। तुम्हारे ही हृदय में मैंने सच्चा उत्सर्ग पाया और तुम्हारी दासी हो गई, आज नहीं, बहुत दिनों से!

४

प्रणय की पहली रात थी, चारों ओर सन्नाटा था। केवल दोनों प्रेमियों के हृदय में अभिलाषाएँ लहरा रही थीं! चारों ओर अनुरागमयी चाँदनी छिटकी हुई थी और उसकी हास्यमयी छटा में वर और वधू प्रेमलाप कर रहे थे।

सहसा ख़बर आई कि शत्रुओं की एक सेना किले की ओर बढ़ी चली आती

है। चिन्ता चौंक पड़ी, रत्नसिंह खड़ा हो गया और खूँटी से लटकती हुई तलवार उतार ली।

चिन्ता ने उसकी ओर कातर-स्नेह की दृष्टि देखकर कहा—कुछ आदमियों को उधर भेज दो, तुम्हारे जाने की क्या ज़रूरत है?

रत्नसिंह ने बन्दूक कन्धे पर रखते हुए कहा—मुझे भय है कि अबकी वे लोग बड़ी संख्या में आ रहे हैं।

चिन्ता—तो मैं भी चलूँगी!

"नहीं, मुझे आशा है वे लोग ठहर न सकेंगे। मैं एक ही धावे में उनके क़दम उखाड़ दूँगा। यह ईश्वर की इच्छा है कि हमारी प्रणय-रात्रि विजय-रात्रि हो।"

"न-जाने क्यों मन कातर हो रहा है। जाने देने को जी नहीं चाहता।"

रत्नसिंह ने सरल अनुरक्त-आग्रह से विह्वल होकर चिन्ता को गले लगा लिया और बोले—मैं सबेरे तक लौट आऊँगा, प्रिये!

चिन्ता पति के गले में हाथ डालकर आँखों में आँसू भरे हुए बोली—मुझे भय है, तुम बहुत दिनों में लौटोगे, मेरा मन तुम्हारे साथ रहेगा। जाओ, पर खोज खबर भेजते रहना। तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, अवसर का विचार करके धावा करना। तुम्हारी आदत है कि शत्रु देखते ही आकुल हो जाते हो और जान पर खेलकर टूट पड़ते हो। तुमसे मेरा यही अनुरोध है कि अवसर देखकर काम करना। जाओ, जिस तरह पीठ दिखाते हो, उसी तरह मुँह दिखाओ।

चिन्ता का हृदय कातर हो रहा था। वहाँ पहले केवल विजय-लालसा का आधिपत्य था; अब भोग-लालसा की प्रधानता थी। वही वीर-बाला, जो सिंहनी की तरह गरजकर शत्रुओं के कलेजे कँपा देती थी, आज इतनी दुर्बल हो रही थी कि जब रत्नसिंह घोड़े पर सवार हुआ, तो आप उसकी कुशल-कामना से मन-ही-मन देवी की मनौतियाँ कर रही थी। जब तक वह वृक्षों की ओट में छिप न गया, वह खड़ी उसे देखती रही, फिर वह किले के सबसे ऊँचे बुर्ज पर चढ़ गई और घंटों उसी तरफ ताकती रही। वहाँ शून्य था, पहाड़ियों ने कभी का रत्नसिंह को अपनी ओट में छिपा लिया था; पर चिन्ता को ऐसा जान पड़ता था कि वह सामने चले जा रहे हैं। जब उषा की लोहित छवि

वृक्षों की आड़ से झाँकने लगी, तो उसकी मोह-विस्मृति टूट गई। मालूम हुआ, चारों ओर शून्य है। वह रोती हुई बुर्ज से उतरी और शय्या पर मुँह ढाँपकर रोने लगी।

५

रत्नसिंह के साथ मुश्किल से सौ आदमी थे; किन्तु सभी मँजे हुए, अवसर और संख्या को तुच्छ समझनेवाले, अपनी जान के दुश्मन। वे वीरोल्लास से भरे हुए एक वीर-रस-पूर्ण पद गाते हुए घोड़ों को बढ़ाये चले जाते थे—

बाँकी तेरी पाग सिपाही, इसकी रखना लाज।
तेग़-तबर कुछ काम न आवे। बख़्तर-ढाल व्यर्थ हो जावे।
रखियो मन में लाग, सिपाही, बाँकी तेरी पाग।
इसकी रखना लाज।

पहाड़ियाँ इन वीर-स्वरों में गूँज रही थीं, घोड़ों की टाप ताल दे रही थी। यहाँ तक कि रात बीत गई, सूर्य ने अपनी लाल आँखें खोल दीं और इन वीरों पर अपनी स्वर्णच्छटा की वर्षा करने लगे।

वहीं रक्तमय प्रकाश में शत्रुओं की सेना एक पहाड़ी पर पड़ाव डाले हुए नज़र आई।

रत्नसिंह सिर झुकाये, वियोग-व्यथित हृदय को दबाये, मन्द गति से पीछे-पीछे चला आता था। क़दम आगे बढ़ता था, पर मन पीछे हटता था। आज जीवन में पहली बार दुश्चिन्ताओं ने उसे आशंकित कर रखा था। कौन जानता है, लड़ाई का अन्त क्या होगा। जिस स्वर्ग सुख को छोड़कर वह आया था, उसकी स्मृतियाँ रह-रहकर उसके हृदय को मसोस रही थीं। चिन्ता की सजल आँखें याद आती थीं और जी चाहता था, घोड़े की रास पीछे मोड़ दे। प्रतिक्षण रणोत्साह क्षीण होता जाता था। सहसा एक सरदार ने समीप आकर कहा—भैया, वह देखो, ऊँची पहाड़ी पर शत्रु डेरे डाले पड़ा है। तुम्हारी अब क्या राय है? हमारी तो यह इच्छा है कि तुरन्त उनपर धावा कर दें।

ग़ाफ़िल पड़े हुए हैं, भाग खड़े होंगे देर करने से वे भी सँभल जायँगे और तब मामला नाज़ुक हो जायगा। एक हज़ार से कम न होंगे।

रत्नसिंह ने चिन्तित नेत्रों से शत्रु-दल की ओर देखकर कहा—हाँ, मालूम तो होता है।

सिपाही—तो धावा कर दिया जाय न?

रत्न०—जैसी तुम्हारी इच्छा! संख्या अधिक है, यह सोच लो।

सिपाही—इसकी परवा नहीं। हम इससे बड़ी सेनाओं को परास्त कर चुके हैं।

रत्न०—यह सच है; पर आग में कूदना ठीक नहीं।

सिपाही—भैया, तुम कहते क्या हो? सिपाही का तो जीवन ही आग में कूदने के लिए है। तुम्हारे हुक्म की देर है, फिर हमारा जीवन देखना।

रत्न०—अभी हम लोग बहुत थके हुए हैं। ज़रा विश्राम कर लेना अच्छा है।

सिपाही—नहीं, भैया, उन सबों को हमारी आहट मिल गई, तो ग़ज़ब हो जायगा।

रत्न०—तो फिर धावा ही कर दो।

एक क्षण में योद्धाओं ने घोड़ों की बागें उठा दीं और सँभाले हुए शत्रु-सेना पर लपके; किन्तु पहाड़ी पर पहुँचते ही इन लोगों को मालूम हो गया कि शत्रु-दल ग़ाफ़िल नहीं है। इन लोगों ने उनके विषय में जो अनुमान किया था, वह मिथ्या था, वे सजग ही नहीं थे, स्वयं क़िले पर धावा करने की तैयारियाँ कर रहे थे। इन लोगों ने जब उन्हें सामने आते देखा, तो समझ गये, भूल हुई; लेकिन अब सामना करने के सिवा चारा ही क्या था। फिर भी वे निराश न थे। रत्नसिंह-जैसे योद्धा के साथ उन्हें कोई शंका न थी। वह इससे भी कठिन अवसरों पर अपने रण-कौशल से विजय-लाभ कर चुका था। क्या आज वह अपना जौहर न दिखायेगा? सारी आँखें रत्नसिंह को खोज रही थीं; पर उसका वहाँ कहीं पता न था। कहाँ चला गया; यह कोई न जानता था।

पर वह कहीं नहीं जा सकता। अपने साथियों को इस कठिन अवस्था में छोड़कर वह कहीं नहीं जा सकता। सम्भव नहीं, अवश्य ही वह यहीं है और हारी हुई बाजी को जीतने की कोई युक्ति सोच रहा है।

एक क्षण में शत्रु इनके सामने आ पहुँचे। इतनी बहुसंख्यक सेना के

सामने ये मुट्ठी-भर आदमी क्या कर सकते थे ? चारों ओर से रत्नसिंह की पुकार होने लगी—भैया, तुम कहाँ हो ? हमें क्या हुक्म देते हो ? देखते हो, वे लोग सामने आ पहुँचे ; पर तुम अभी तक मौन खड़े हो। सामने आकर हमें मार्ग दिखाओ, हमारा उत्साह बढ़ाओ।

पर अब भी रत्नसिंह न दिखाई दिया। यहाँ तक कि शत्रुदल सिर पर आ पहुँचा और दोनों दलों में तलवारें चलने लगीं। बुन्देलों ने प्राण हथेली पर लेकर लड़ना शुरू किया, पर एक को एक बहुत होता है; एक और दस का मुकाबिला ही क्या ? यह लड़ाई न थी, प्राणों का जुआ था। बुन्देलों में निराशा का अलौकिक बल था। खूब लड़े ; पर क्या मजाल कि कदम पीछे हटे। उनमें अब जरा भी संगठन न था। जिससे जितना आगे बढ़ते बना, बढ़ा। अन्त क्या होगा, इसकी किसीको चिन्ता न थी। कोई तो शत्रुओं को सफ़ चीरता हुआ सेनापति के समीप पहुँच गया, कोई उसके हाथी पर चढ़ने की चेष्टा करते मारा गया, उसका अमानुषिक साहस देखकर शत्रुओं के मुँह से भी वाह-वाह निकलती थी ; लेकिन ऐसे योद्धाओं ने नाम पाया, विजय नहीं पाई। एक घण्टे में रंग-मंच का परदा गिर गया, तमाशा खतम हो गया। एक आँधी थी, जो आई और वृक्षों को उखाड़ती हुई चली गई। संगठित रहकर ये मुट्ठी-भर आदमी दुश्मनों के दाँत खट्टे कर देते ; पर जिस पर संगठन का भार था, उसका कहीं पता न था। विजयी मरहठों ने एक-एक लाश ध्यान से देखी। रत्नसिंह उनकी आँखों में खटकता था, उसी पर उनके दाँत लगे थे। रत्नसिंह के जीते-जी उन्हें नींद न आती थी। लोगों ने पहाड़ी की एक एक चट्टान का मंथन कर डाला, पर रत्न हाथ न आया। विजय हुई, पर अधूरी।

७

चिन्ता के हृदय में आज न-जाने क्यों भाँति-भाँति की शंकाएँ उठ रही थीं। वह कभी इतनी दुर्बल न थी। बुन्देलों की हार ही क्यों होगी इसका कारण तो वह न बता सकती ; पर वह भावना उसके विकल हृदय से किसी तरह न निकलती थी। उस अभागिनी के भाग्य में प्रेम का सुख भोगना लिखा होता, तो क्या बचपन ही में माँ मर जाती, पिता के साथ बन-बन घूमना पड़ता, खोहों और कन्दरों में रहना पड़ता ! और वह आश्रय भी तो बहुत दिन तक न

रहा। पिता भी मुँह मोड़कर चल दिये। तबसे उसे एक दिन भी आराम से बैठना नसीब न हुआ। विधाता क्या अब अपना क्रूर कौतुक छोड़ देगा? आह! उसके दुर्बल हृदय में इस समय एक विचित्र भावना उत्पन्न हुई—ईश्वर उसके प्रियतम को आज सकुशल लाये, तो वह उसे लेकर किसी दूसरे गाँव में जा बसेगी, पति-देव की सेवा और आराधना में जीवन सफल करेगी। इस संग्राम से सदा के लिए मुँह मोड़ लेगी। आज पहली बार नारीत्व का भाव उसके मन में जाग्रत हुआ।

सन्ध्या हो गई थी, सूर्य भगवान् किसी हारे हुए सिपाही की भाँति मस्तक झुकाये कोई आड़ खोज रहे थे। सहसा एक सिपाही नंगे सिर, नंगे पाँव, निश्शस्त्र उसके सामने आकर खड़ा हो गया। चिन्ता पर वज्रपात हो गया। एक क्षण तक मर्माहत सी बैठी रही। फिर उठकर घबराई हुई सैनिक के पास आई और आतुर स्वर में पूछा—कौन-कौन बचा?

सैनिक ने कहा—कोई नहीं!!

"कोई नहीं? कोई नहीं!"

चिन्ता सिर पकड़कर भूमि पर बैठ गई। सैनिक ने फिर कहा—मरहठे समीप आ पहुँचे।

"समीप आ पहुँचे!"

"बहुत समीप!"

"तो तुरत चिता तैयार करो। समय नहीं है।"

"अभी हम लोग तो सिर कटाने को हाजिर ही हैं।"

"तुम्हारी जैसी इच्छा। मेरे कर्तव्य का तो यही अन्त है।"

"किला बन्द करके हम महीनों तक लड़ सकते हैं।"

"तो जाकर लड़ो। मेरी लड़ाई अब किसीसे नहीं।"

एक ओर अन्धकार प्रकाश को पैरों-तले कुचलता चला आता था, दूसरी ओर विजयी मरहठे लहराते हुए खेतों को। किले में चिता बन रही थी। ज्योंही दीपक जला, चिता में भी आग लगी। सती चिन्ता, सोलहो श्रृंगार किये अनुपम छवि दिखाती हुई, प्रसन्न-मुख अग्नि-मार्ग से पति-लोक की यात्रा करने जा रही थी।

८

चिता के चारों ओर स्त्री और पुरुष जमा थे। शत्रुओं ने किले को घेर लिया है, इसकी किसीको फिक्र न थी। शोक और सन्ताप से सबके चेहरे उदास और सिर झुके थे। अभी कल इसी आँगन में विवाह का मण्डप सजाया गया था। जहाँ इस समय चिता सुलग रही है, वहीं कल हवन-कुण्ड था। कल भी इस-भाँति अग्नि की लपटें उठ रही थीं। इसी भाँति लोग जमा थे; पर आज और कल के दृश्यों में कितना अन्तर है! हाँ, स्थूल नेत्रों के लिए अन्तर हो सकता है; पर वास्तव में यह उसी यज्ञ की पूर्णाहुति है, उसकी प्रतिज्ञा का पालन है।

सहसा घोड़ों की टापों की आवाज़ें सुनाई देने लगीं। मालूम होता था कोई सिपाही घोड़े पर सरपट भागता चला आ रहा है। एक क्षण में टापों की आवाज़ बंद हो गई और एक सैनिक आँगन में दौड़ा आ पहुँचा। लोगों ने चकित होकर देखा, यह रत्नसिंह था।

रत्नसिंह चिता के पास जाकर हाँफता हुआ बोला—प्रिये मैं तो अभी जीवित हूँ, यह तुमने क्या कर डाला? चिता में आग लग चुकी! चिन्ता की साड़ी से अग्नि की ज्वाला निकल रही थी। रत्नसिंह उन्मत्त की भाँति चिता में घुस गया और चिन्ता का हाथ पकड़कर उठाने लगा। लोगों ने चारों ओर लपक-लपककर चिता की लकड़ियाँ हटानी शुरू कीं; पर चिन्ता ने पति की ओर आँख उठाकर भी न देखा, केवल हाथों से हट जाने का संकेत किया।

रत्नसिंह सिर पीटकर बोला—हाय प्रिये! तुम्हें क्या हो गया है, मेरी ओर देखतीं क्यों नहीं? मैं तो जीवित हूँ।

चिता से आवाज़ आई—तुम्हारा नाम रत्नसिंह है; पर तुम मेरे रत्नसिंह नहीं हो।

"तुम मेरी तरफ देखो, मैं ही तुम्हारा दास, तुम्हारा उपासक, तुम्हारा पति हूँ।"

"मेरे पति ने वीर गति पाई!"

"हाय, कैसे समझाऊँ! अरे लोगो, किसी भाँति अग्नि को शान्त करो। मैं रत्नसिंह ही हूँ प्रिये! क्या तुम मुझे पहचानती नहीं हो!"

अग्नि-शिखा चिन्ता के मुँह तक पहुँच गई। अग्नि में कमल खिल गया। चिन्ता स्पष्ट स्वर में बोली—खूब पहचानती हूँ। तुम मेरे रत्नसिंह नहीं। मेरा रत्नसिंह सच्चा शूर था। वह आत्म-रक्षा के लिए, इस तुच्छ देह को बचाने के लिए, अपने क्षत्रियधर्म का परित्याग न कर सकता था। मैं जिस पुरुष के चरणों की दासी बनी थी, वह देवलोक में विराजमान है। रत्नसिंह को बदनाम मत करो। वह वीर राजपूत था, रणक्षेत्र से भागनेवाला कायर नहीं।

अन्तिम शब्द निकले ही थे कि अग्नि की ज्वाला चिन्ता के सिर के ऊपर जा पहुँची। फिर एक क्षण में वह अनुपम रूपराशि, वह आदर्श वीरता की उपासिका, वह सच्ची सती अग्निराशि में विलीन हो गई।

रत्नसिंह चुपचाप, हतबुद्धि-सा खड़ा यह शोकमय दृश्य देखता रहा। फिर अचानक एक ठण्डी साँस खींचकर उसी चिता में कूद पड़ा।

गृह-दाह

१

सत्यप्रकाश के जन्मोत्सव में लाला देवप्रकाश ने बहुत रुपये खर्च किये थे। उसका विद्यारम्भ संस्कार भी खूब धूम-धाम से किया गया। उसके हवा खाने को एक छोटी-सी गाड़ी थी। शाम को नौकर उसे टहलाने ले जाता। एक नौकर उसे पाठशाला पहुँचाने जाता; दिन-भर वहीं बैठा रहता और उसे साथ लेकर घर आता था। कितना सुशील, होनहार बालक था! गोरा मुखड़ा, बड़ी-बड़ी आँखें, ऊँचा मस्तक, पतले-पतले लाल अधर, भरे हुए हाथ-पाँव। उसे देखकर सहसा मुँह से निकल पड़ता था—भगवान् इसे जिला दे, तो प्रतापी मनुष्य होगा। उसकी बाल-बुद्धि की प्रखरता पर लोगों को आश्चर्य होता था। नित्य उसके मुखचन्द्र पर हँसी खेलती रहती थी। किसीने उसे हठ करते या रोते नहीं देखा।

वर्षा के दिन थे। देवप्रकाश बहन को लेकर गंगा-स्नान करने गये। नदी खूब चढ़ी हुई थी, मानो अनाथ की आँखें हों। उनकी पत्नी—निर्मला—जल में बैठकर क्रीड़ा करने लगी। कभी आगे जाती, कभी पीछे जाती, कभी डुबकी मारती, कभी अँजुलियों से छींटे उड़ाती। देवप्रकाश ने कहा—अच्छा, अब निकलो, नहीं तो सरदी हो जायगी। निर्मला ने कहा—कहो, तो मैं छाती तक पानी में चली जाऊँ?

देवप्रकाश—और कहीं पैर फिसल जाय!

निर्मला—पैर क्या फिसलेगा?

यह कहकर वह छाती तक पानी में चली गई। पति ने कहा—अच्छा, अब आगे पैर न रखना, किन्तु निर्मला के सिर पर मौत खेल रही थी। यह जल-क्रीड़ा नहीं, मृत्यु-क्रीड़ा थी। उसने एक पग और आगे बढ़ाया और फिसल गई। मुँह से चीख निकली, दोनों हाथ सहारे के लिए ऊपर उठे और फिर जल-

मग्न हो गये। एक पल में प्यासी नदी उसे पी गई। देवप्रकाश खड़े तौलिये से देह पोंछ रहे थे। तुरन्त पानी में कूदे, साथ का कहार भी कूदा। दो मल्लाह भी कूद पड़े। सबने डुबकियाँ मारीं, टटोला, पर निर्मला का पता न चला। तब डोंगी मँगाई गई। मल्लाहों ने बार-बार गोते मारे, पर लाश हाथ न आई। देवप्रकाश शोक में डूबे हुए घर आये। सत्यप्रकाश किसी उपहार की आशा में दौड़ा। पिता ने गोद में उठा लिया और बड़ा यत्न करने पर भी अपनी सिसकी न रोक सके। सत्यप्रकाश ने पूछा—अम्माँ कहाँ हैं।

देव०—बेटा, गंगा ने उन्हें नेवता खाने के लिए रोक लिया।

सत्यप्रकाश ने उनके मुख की ओर जिज्ञासा-भाव से देखा और आशय समझ गया। अम्माँ, अम्माँ—कहकर रोने लगा।

२

मातृहीन बालक संसार का सबसे करुणाजनक प्राणी है। दीन-से-दीन प्राणियों को भी ईश्वर का आधार होता है, जो उनके हृदय को सँभालता रहता है। मातृहीन बालक इस आधार से भी वंचित होता है। माता ही उसके जीवन का एक मात्र आधार होती है। माता के बिना वह पंख-हीन-पक्षी है।

सत्यप्रकाश को एकांत से प्रेम हो गया। अकेले बैठा रहता। वृक्षों में उसे उस सहानुभूति का कुछ-कुछ अज्ञात अनुभव होता था, जो घर के प्राणियों में उसे न मिलती थी। माता का प्रेम था, तो सभी प्रेम करते थे। माता का प्रेम उठ गया, तो सभी निष्ठुर हो गये। पिता की आँखों में भी वह प्रेम ज्योति न रही। दरिद्र को कौन भिक्षा देता है?

छः महीने बीत गये। सहसा एक दिन उसे मालूम हुआ मेरी नयी माता आनेवाली है। दौड़ा पिता के पास गया और पूछा—क्या मेरी नयी माता आयेगी? पिता ने कहा—हाँ बेटा, वह आकर तुम्हें प्यार करेगी।

सत्य०—क्या मेरी माँ स्वर्ग से आ जायँगी?

देव०—हाँ, वही आ जायँगी!

सत्य०—मुझे उसी तरह प्यार करेंगी?

देवप्रकाश इसका क्या उत्तर देते? मगर सत्यप्रकाश उस दिन से प्रसन्न-मन रहने लगा। अम्माँ आयेंगी! मुझे गोद में लेकर प्यार करेंगी! अब मैं

तुम्हें कभी दिक न करूँगा, कभी ज़िद न करूँगा, अच्छी-अच्छी कहानियाँ सुनाया करूँगा।

विवाह के दिन आये। घर में तैयारियाँ होने लगीं। सत्यप्रकाश ख़ुशी से फूला न समाता। मेरी नई अम्माँ आयेंगी। बारात में वह भी गया। नये-नये कपड़े मिले। पालकी पर बैठा। नानी ने अन्दर बुलाया और गोद में लेकर एक अशरफी दी। वहीं उसे नयी माता के दर्शन हुए। नानी ने नयी माता से कहा—बेटी, कैसा सुन्दर बालक है! इसे प्यार करना।

सत्यप्रकाश ने नयी माता को देखा और मुग्ध हो गया। बच्चे भी रूप के उपासक होते हैं। एक लावण्यमयी मूर्ति आभूषण से लदी सामने खड़ी थी। उसने हाथों से उसका आँचल पकड़कर कहा—अम्माँ!

कितना अरुचिकर शब्द था, कितना लज्जायुक्त, कितना अप्रिय! वह ललना जो 'देवप्रिया' नाम से सम्बोधित होती थी, उत्तरदायित्व, त्याग और क्षमा का सम्बोधन न सह सकी। अभी वह प्रेम और विलास का सुख-स्वप्न देख रही थी—यौवनकाल की मदमय वायु तरंगों में आंदोलित हो रही थी। इस शब्द ने उसके स्वप्न को भंग कर दिया, कुछ रुष्ट होकर बोली—मुझे अम्माँ मत कहो।

सत्यप्रकाश ने विस्मित नेत्रों से देखा। उसका बाल-स्वप्न भंग हो गया। आँखें डबडबा गईं। नानी ने कहा—बेटी, देखो, लड़के का दिल छोटा हो गया। वह क्या जाने, क्या कहना चाहिए। अम्माँ कह दिया, तो तुम्हें कौन-सी चोट लग गई?

देवप्रिया ने कहा—मुझे अम्माँ न कहे।

३

सौत का पुत्र विमाता की आँखों में क्यों इतना खटकता है, इसका निर्णय आज तक किसी मनोभाव के पंडित ने नहीं किया; हम किस गिनती में हैं। देवप्रिया जब तक गर्भिणी न हुई, वह सत्यप्रकाश से कभी-कभी बातें करती, कहानियाँ सुनाती; किंतु गर्भिणी होते ही उसका व्यवहार कठोर हो गया। प्रसव-काल ज्यों-ज्यों निकट आता था, उसकी कठोरता बढ़ती ही जाती थी। जिस दिन उसकी गोद में एक चाँद-से बच्चे का आगमन हुआ; सत्यप्रकाश खूब उछला और सौर-गृह में दौड़ा हुआ बच्चे को देखने गया। बच्चा देवप्रिया की गोद में

सो रहा था। सत्यप्रकाश ने बड़ी उत्सुकता से बच्चे को विमाता की गोद से उठाना चाहा कि सहसा देवप्रिया ने सरोष स्वर में कहा—खबरदार, इसे मत छूना, नहीं तो कान पकड़कर उखाड़ लूँगी।

बालक उल्टे पाँव लौट आया और कोठे की छत पर जाकर खूब रोया। कितना सुन्दर बच्चा है! मैं इसे गोद में लेकर बैठता, तो कैसा मज़ा आता! मैं उसे गिराता थोड़े ही, फिर उन्होंने मुझे झिड़क क्यों दिया? भोला बालक क्या जानता था कि इस झिड़की का कारण माता की सावधानी नहीं, कुछ और है।

शिशु का नाम ज्ञानप्रकाश रक्खा गया था। एक दिन वह सो रहा था। देवप्रिया स्नानागार में थी। सत्यप्रकाश चुपके से आया और बच्चे का ओढ़ना हटाकर उसे अनुरागमय नेत्रों से देखने लगा। उसका जी कितना चाहा कि उसे गोद में लेकर प्यार करूँ; पर डर के मारे उसे उठाया नहीं, केवल उसके कपोलों को चूमने लगा। इतने में देवप्रिया निकल आई। सत्यप्रकाश को बच्चे को चूमते देखकर आग हो गई। दूर से ही डाँटा—हट जाओ वहाँ से।

सत्यप्रकाश दीन नेत्रों से माता को देखता हुआ बाहर निकल आया।

सन्ध्या समय उसके पिता ने पूछा—तुम लल्ला को क्यों रुलाया करते हो?

सत्य०—मैंने तो उसे कभी नहीं रुलाया। अम्माँ खेलाने नहीं देतीं।

देव०—झूठ बोलते हो, आज तुमने बच्चे को चुटकी काटी।

सत्य०—जी नहीं, मैं तो उसकी मुच्छियाँ ले रहा था।

देव०—झूठ बोलता है।

सत्य०—मैं झूठ नहीं बोलता।

देवप्रकाश को क्रोध आ गया। लड़के को दो-तीन तमाचे लगाए। पहली बार यह ताड़ना मिली और निरपराध! इसने उसके जीवन की काया-पलट कर दी।

४

उस दिन से सत्यप्रकाश के स्वभाव में एक विचित्र परिवर्तन दिखाई देने लगा। वह घर में बहुत कम आता; पिता आते, तो चोरों की भाँति दबकता हुआ आकर खा लेता; न कुछ माँगता, न कुछ बोलता। पहले अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि था। उसकी सफाई, सलीके और फुरती पर लोग मुग्ध हो जाते थे।

अब वह पढ़ने से भी चुराता, मैले-कुचैले कपड़े पहने रहता। घर में कोई प्रेम करनेवाला न था! बाज़ार के लड़कों के साथ गली-गली घूमता, कनकौवे लूटता। गालियाँ बकना भी सीख गया। शरीर दुर्बल हो गया। चेहरे की कान्ति गायब हो गई। देवप्रकाश को अब आये-दिन उसकी शरारतों के उलहने मिलने लगे और सत्यप्रकाश नित्य घुड़कियाँ और तमाचे खाने लगा। यहाँ तक कि वह अगर कभी घर में किसी काम से चला जाता, तो सब लोग दूर-दूर कहकर दौड़ते।

ज्ञानप्रकाश को पढ़ाने के लिए मास्टर आता था। देवप्रकाश उसे रोज सैर कराने साथ ले जाते। हँसमुख लड़का था। देवप्रिया उसे सत्यप्रकाश के साए से भी बचाती थी। दोनों लड़कों में कितना अन्तर था! एक साफ-सुथरा, सुन्दर कपड़े पहने, शील और विनय का पुतला; सच बोलनेवाला; देखनेवालों के मुँह से अनायास ही दुआ निकल आती थी। दूसरा मैला नटखट, चोरों की तरह मुँह छिपाये हुए, मुँहफट, बात-बात पर गालियाँ बकनेवाला। एक हरा-भरा पौधा, प्रेम में प्लावित, स्नेह से सिंचित; दूसरा सूखा हुआ, टेढ़ा, पल्लव-हीन नववृक्ष जिसकी जड़ों को एक मुद्दत से पानी नहीं नसीब हुआ। एक को देखकर पिता की छाती ठण्ढी होती; दूसरे को देखकर देह में आग लग जाती।

आश्चर्य यह था कि सत्यप्रकाश को अपने छोटे भाई से लेशमात्र भी ईर्ष्या न थी, अगर उसके हृदय में कोई कोमल भाव शेष रह गया था, तो वह ज्ञानप्रकाश के प्रति स्नेह था। उस मरुभूमि में यही एक हरियाली थी। ईर्ष्या साम्यभाव की द्योतक है। सत्यप्रकाश अपने भाई को अपने से कहीं ऊँचा, कहीं भाग्यशाली समझता। उसमें ईर्ष्या का भाव ही लोप हो गया था।

घृणा से घृणा उत्पन्न होती है; प्रेम से प्रेम। ज्ञानप्रकाश भी बड़े भाई को चाहता था। कभी कभी उसका पक्ष लेकर अपनी माँ से वाद-विवाद कर बैठता। कहता, भैया की अचकन फट गई है, आप नयी अचकन क्यों नहीं बनवा देतीं? माँ उत्तर देती—उसके लिए वह अचकन अच्छी है। अभी क्या, अभी तो वह नंगा फिरेगा। ज्ञानप्रकाश बहुत चाहता था कि अपने जेब-खर्च से बचाकर कुछ अपने भाई को दे, पर सत्यप्रकाश कभी इसे स्वीकार न करता। वास्तव में जितनी देर वह छोटे भाई के साथ रहता, उतनी देर उसे

एक शान्तिमय आनन्द का अनुभव होता था। थोड़ी देर के लिए वह सद्भावों के साम्राज्य में विचरने लगता। उसके मुख से कोई भद्दी और अप्रिय बात न निकलती। एक क्षण के लिए उसकी सोई हुई आत्मा जाग उठती।

एक बार कई दिन तक सत्यप्रकाश मदरसे न गया। पिता ने पूछा—तुम आजकल पढ़ने क्यों नहीं जाते? क्या सोच रक्खा है कि मैंने तुम्हारी जिन्दगी-भर का ठेका ले रक्खा है?

सत्य०—मेरे ऊपर जुर्माने और फीस के कई रुपये हो गये हैं। जाता हूँ, तो दरजे से निकाल दिया जाता हूँ।

देव०—फीस क्यों बाकी है? तुम तो महीने-महीने ले लिया करते हो न?

सत्य०—आये दिन चन्दे लगा करते हैं! फीस के रुपये चन्दे में दे दिये!

देव०—और जुर्माना क्यों हुआ?

सत्य०—फीस न देने के कारण।

देव०—तुमने चंदा क्यों दिया?

सत्य०—ज्ञानू ने चंदा दिया, तो मैंने भी दिया।

देव०—तुम ज्ञानू से जलते हो!

सत्य०—मैं ज्ञानू से क्यों जलने लगा। यहाँ हम और वह दो हैं; बाहर हम और वह एक समझे जाते हैं। मैं यह नहीं कहना चाहता कि मेरे पास कुछ नहीं है।

देव०—क्यों यह कहते शर्म आती है?

सत्य०—जी हाँ, आपकी बदनामी होगी।

देव०—अच्छा तो आप मेरी मान-रक्षा करते हैं! यह क्यों नहीं कहते कि पढ़ना अब मंजूर नहीं। मेरे पास इतना रुपया नहीं कि तुम्हें एक-एक क्लास में तीन-तीन साल पढ़ाऊँ, ऊपर से तुम्हारे खर्च के लिए भी प्रतिमास कुछ दूँ। ज्ञानबाबू तुमसे कितना छोटा है। लेकिन तुमसे एक ही दर्जा नीचे है। तुम इस साल जरूर ही फेल होओगे। वह जरूर ही पास होगा। अगले साल तुम्हारे साथ हो जायगा। तब तो तुम्हारे मुँह में कालिख लगेगी न?

सत्य०—विद्या मेरे भाग्य ही में नहीं है।

देव०—तुम्हारे भाग्य में क्या है?

सत्य०—भीख माँगना।

देव०—तो फिर भीख ही माँगो। मेरे घर से निकल जाओ।

देवप्रिया भी आगई। बोली—शरमाता तो नहीं और बातों का जवाब देता है।

सत्य०—जिनके भाग्य में भीख माँगना होता है, वे ही बचपन में अनाथ हो जाते हैं।

देवप्रिया—ये जली कटी बातें अब मुझसे न सही जायँगी। मैं खून का घूँट पी-पीकर रह जाती हूँ।

देव०—बेहया है। कल से इनका नाम कटवा दूँगा। भीख माँगनी है, तो भीख माँगो।

५

दूसरे दिन सत्यप्रकाश ने घर से निकलने की तैयारी कर दी। उसकी उम्र अब १६ साल की हो गई थी। इतनी बातें सुनने के बाद उसे घर में रहना असह्य हो गया था। जब तक हाथ-पाँव न थे; किशोरावस्था की असमर्थता थी, तब तक अवहेलना, निरादर, निष्ठुरता, भर्त्सना—सब कुछ सहकर घर में रहता रहा। अब हाथ-पाँव हो गये थे। उस बंधन में क्यों रहता! आत्माभिमान आशा की भाँति चिरजीवी होता है।

गर्मी के दिन थे, दोपहर का समय। घर के सब प्राणी सो रहे थे। सत्यप्रकाश ने अपनी धोती बगल में दबाई; एक छोटा-सा बैग हाथ में लिया और चाहता था कि चुपके से बैठक से निकल जायँ कि ज्ञानू आ गया और उसे जाने को तैयार देखकर बोला—कहाँ जाते हो भैया?

सत्य०—जाता हूँ, कहीं नौकरी करूँगा।

ज्ञान०—मैं जाकर अम्मा से कह देता हूँ।

सत्य०—तो फिर मैं तुमसे भी छिपाकर चला जाऊँगा।

ज्ञान०—क्यों चले जाओगे? तुम्हें मेरी जरा भी मुहब्बत नहीं?

सत्यप्रकाश ने भाई को गले लगाकर कहा—तुम्हें छोड़कर जाने को जी तो नहीं चाहता; लेकिन जहाँ कोई पूछनेवाला नहीं है, वहाँ पड़े रहना बेहयाई है। कहीं दस-पाँच की नौकरी कर लूँगा और पेट पालता रहूँगा; और किस लायक हूँ।

ज्ञान०—तुमसे अम्मा क्यों इतना चिढ़ती हैं। मुझे तुमसे मिलने को मना करती हैं।

सत्य०—मेरे नसीब खोटे हैं और क्या!

ज्ञान०—तुम लिखने-पढ़ने में जी नहीं लगाते?

सत्य०—लगता ही नहीं, कैसे लगाऊँ? जब कोई परवा नहीं करता, तो मैं भी सोचता हूँ—उँह, यही न होगा; ठोकर खाऊँगा। बला से!

ज्ञान०—मुझे भूल तो न जाओगे? मैं तुम्हारे पास खत लिखा करूँगा। मुझे भी एक बार अपने यहाँ बुलाना।

सत्य०—तुम्हारे स्कूल के पते से चिट्ठी लिखूँगा।

ज्ञान०—(रोते-रोते) मुझे न-जाने क्यों तुम्हारी बड़ी मुहब्बत लगती है।

सत्य—मैं तुम्हें सदैव याद रखूँगा।

यह कहकर उसने फिर भाई को गले से लगाया और घर से निकल पड़ा। पास एक कौड़ी भी न थी और वह कलकत्ते जा रहा था।

६

सत्यप्रकाश कलकत्ते क्योंकर पहुँचा, इसका वृत्तान्त लिखना व्यर्थ है। युवकों में दुस्साहस की मात्रा अधिक होती है। वे हवा में किले बना सकते हैं, धरती पर नाव चला सकते हैं। कठिनाइयों की उन्हें कुछ परवा नहीं होती अपने ऊपर असीम विश्वास होता है। कलकत्ते पहुँचना ऐसा कष्टसाध्य न था। सत्यप्रकाश चतुर युवक था। पहले ही उसने निश्चय कर लिया था कि कलकत्ते में क्या करूँगा, कहाँ रहूँगा। उसके बैग में लिखने की सामग्री मौजूद थी। बड़े शहरों में जीविका का प्रश्न कठिन भी है और सरल भी। सरल है उनके लिए जो हाथ से काम कर सकते हैं। कठिन है उनके लिए; जो कलम से काम करते हैं। सत्यप्रकाश मजदूरी करना नीच समझता था। उसने एक धर्मशाला में असबाब रक्खा। बाद में शहर में मुख्य-मुख्य स्थानों का निरीक्षण कर एक डाक-घर के सामने लिखने का सामान लेकर बैठ गया और अपढ़ मजदूरों की चिट्ठयाँ, मनीआर्डर आदि लिखने का व्यवसाय करने लगा। पहले कई दिन तो उसको इतने भी पैसे न मिले कि भरपेट भोजन करता; लेकिन धीरे-धीरे आमदनी बढ़ने लगी। वह मजदूरों से इतने विनय के साथ बातें करता और उनके समा-

चार इतने विस्तार से लिखता कि वे सब पत्र को सुनकर प्रसन्न होते। अशिक्षित लोग एक ही बात को दो-दो तीन-तीन बार लिखते हैं। उनकी दशा ठीक रोगियों की-सी होती है, जो वैद्य से अपनी व्यथा और वेदना का वृत्तान्त कहते नहीं थकते। सत्यप्रकाश सूत्र को व्याख्या का रूप देकर मजदूरों को मुग्ध कर देता था। एक संतुष्ट होकर जाता, तो अपने कई अन्य भाइयों को खोज लाता। एक ही महीने में उसे १) रोज मिलने लगा। उसने धर्मशाला से निकलकर शहर से बाहर ५) महीने पर एक छोटी-सी कोठरी ले ली। एक जून बनाता, दोनों जून खाता। बर्तन अपने हाथों से धोता। जमीन पर सोता। उसे अपने निर्वासन पर जरा भी खेद और दुःख न था। घर के लोगों की कभी याद न आती। वह अपनी दशा पर संतुष्ट था। केवल ज्ञानप्रकाश की प्रेमयुक्त बातें न भूलतीं। अन्धकार में यही एक प्रकाश था। विदाई का अन्तिम दृश्य आंखों के सामने फिरा करता। जीविका से निश्चिन्त होकर उसने ज्ञानप्रकाश को एक पत्र लिखा। उत्तर आया। उसके आनन्द की सीमा न रही। ज्ञानू मुझे याद करके रोता है, मेरे पास आना चाहता है; स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं है। प्यासे को पानी से जो तृप्ति होती है, वही इस पत्र से सत्याप्रकाश को हुई। मैं अकेला नहीं हूँ, कोई मुझे भी चाहता है—मुझे भी याद करता है।

उस दिन से सत्यप्रकास को यह चिन्ता हुई कि ज्ञानू के लिये कोई उपहार भेजूं। युवकों को मित्र बहुत जल्द मिल जाते हैं। सत्यप्रकाश की भी कई युवकों से मित्रता हो गई थी। उनके साथ कई बार सिनेमा देखने गया। कई बार बूटी, भंग, शराब-क़बाब की ठहरी। आईना, तेल, कंघी का शौक भी पैदा हुआ। जो कुछ पाता, उड़ा देता; बड़े वेग से नैतिक पतन और शारीरिक विनाश की ओर दौड़ा चला जाता था। इस प्रेम पत्र ने उसके पैर पकड़ लिये। उपहार के प्रयास ने इन दुर्व्यसनों को तिरोहित करना शुरू किया, सिनेमा का चसका छूटा, मित्रों को हीले-हवाले करके टालने लगा। भोजन भी रूखा-सूखा करने लगा। धन संचय की चिन्ता ने सारी इच्छाओं को परास्त कर दिया। उसने निश्चय किया कि एक अच्छी सी घड़ी भेजूं। उसका दाम कम से कम ४०) होगा। अगर तीन महीने तक एक कौड़ी का भी अपव्यय न करूं, तो घड़ी मिल सकती है। ज्ञानू घड़ी देख कर कैसा खुश होगा। अम्मा और बाबूजी भी देखेंगे।

उन्हें मालूम हो जायगा कि मैं भूखों नहीं मर रहा हूँ। किफायत की धुन में वह बहुधा दिया-बत्ती भी न करता। बड़े सबेरे काम करने चला जाता और सारे दिन दो-चार पैसे की मिठाई खाकर काम करता रहता। उसके ग्राहकों की संख्या दिन-दूनी होती जाती थी। चिठ्ठी-पत्री के अतिरिक्त अब उसने तार लिखने का भी अभ्यास कर लिया था। दो ही महीनों में उसके पास ५०) एकत्र हो गये और जब घड़ी के साथ सुनहरी चैन का पारसल बना कर ज्ञानू के नाम भेज दिया, तो उसका चित्त इतना उत्साहित था, मानो किसी निस्सन्तान के बालक हुआ हो।

'घर' कितनी ही कोमल, पवित्र, मनोहर स्मृतियों को जाग्रत कर देता है। यह प्रेम का निवास स्थान है। प्रेम ने बहुत तपस्या करके यह वरदान पाया है।

किशोरावस्था में 'घर' माता-पिता, भाई बहिन, सखी सहेली की प्रेम की याद दिलाता है; प्रौढ़ावस्था में गृहिणी और बाल-बच्चों के प्रेम की। यही वह लहर है, जो मानव-जीवन मात्र को स्थिर रखती है, उसे समुद्र की वेगवती लहरों में बहने और चट्टानों से टकराने से बचाती है। यह वह मण्डप है, जो जीवन को समस्त विघ्न-बाधाओं से सुरक्षित रखता है।

सत्यप्रकाश का 'घर' कहाँ था? वह कौन-सी शक्ति थी, जो कलकत्ते के विराट् प्रलोभनों से उसकी रक्षा करती थी? माता का प्रेम, पिता का स्नेह, बाल-बच्चों की चिन्ता?—नहीं उसका रक्षक, उद्धारक, उसका पारितोषिक केवल ज्ञानप्रकाश का स्नेह था। उसी के निमित्त वह एक-एक पैसे की किफायत करता। उसी के लिए वह कठिन परिश्रम—धनोपार्जन के नये-नये उपाय सोचता। उसे ज्ञानप्रकाश के पत्रों से मालूम हुआ था कि इन दिनों देवप्रकाश की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। वह एक घर बनवा रहे हैं, जिसमें व्यय अनुमान से अधिक हो जाने के कारण ऋण लेना पड़ा है। इसलिये अब ज्ञानप्रकाश को पढ़ाने के लिये घर पर मास्टर नहीं आता। तब से सत्यप्रकाश प्रतिमास ज्ञानू के पास कुछ न कुछ अवश्य भेज देता था। वह अब केवल पत्र लेखक न था, लिखने के सामान की एक छोटी दूकान भी उसने खोल ली थी। इससे अच्छी आमदनी हो जाती। इस तरह पांच वर्ष बीत गये। रसिक

मित्रों ने जब देखा कि अब यह हत्थे नहीं चढ़ता, तो उसके पास आना-जाना छोड़ दिया।

७

सन्ध्या का समय था। देवप्रकाश अपने मकान में बैठे देवप्रिया से ज्ञानप्रकाश के विवाह के सम्बन्ध में बातें कर रहे थे। ज्ञानू अब १७ वर्ष का सुन्दर युवक था। बाल-विवाह के विरोधी होने पर भी देवप्रकाश अब इस शुभ मुहूर्त को न टाल सकते थे। विशेषतः जब कोई महाशय ५०००) दायज देने को प्रस्तुत हों।

देवप्रकाश—मैं तो तैयार हूँ। लेकिन तुम्हारा लड़का भी तैयार हो?

देवप्रिया—तुम बात-चीत पक्की करलो, वह तैयार हो ही जायगा। सभी लड़के पहले 'नहीं' करते हैं।

देवप्रकाश—ज्ञानू का इनकार केवल संकोच का इन्कार नहीं है, वह सिद्धान्त का इन्कार है। वह साफ-साफ कह रहा है कि जब तक भैया का विवाह न होगा, मैं अपना विवाह करने पर राजी नहीं हूँ।

देवप्रिया—उसकी कौन चलाये, वहाँ कोई रखैल रखली होगी, विवाह क्यों करेगा? वहाँ कोई देखने जाता है?

देवप्रकाश—(झुँझलाकर) रखैल रख ली होती तो तुम्हारे लड़के को ४०) महीने न भेजता और न वे चीज़ें ही देता, जिन्हें पहले महीने से अब तक बराबर देता चला आता है। न जाने क्यों तुम्हारा मन उसकी ओर से इतना मैला हो गया है। चाहे वह जान निकालकर भी दे दे; लेकिन तुम न पसीजोगी।

देवप्रिया नाराज होकर चली गई। देवप्रकाश उससे यही कहलाया चाहते थे कि पहले सत्यप्रकाश का विवाह करना उचित है; किन्तु वह कभी इस प्रसंग को आने ही न देती थी। स्वयं देवप्रकाश की हार्दिक इच्छा थी कि पहले लड़के का विवाह करें; पर इन्होंने भी आज तक सत्यप्रकाश को कोई पत्र न लिखा था। देवप्रिया के चले जाने के बाद उन्होंने आज पहली बार सत्यप्रकाश को पत्र लिखा। पहले इतने दिनों तक चुपचाप रहने के लिए क्षमा माँगी, तब उसे एक बार घर आने का प्रेमाग्रह किया। लिखा, अब मैं कुछ ही दिनों का मेहमान हूँ। मेरी अभिलाषा है कि तुम्हारा और तुम्हारे छोटे भाई का विवाह देख लूँ।

मुझे बहुत दुःख होगा, यदि तुम स्वीकार न करोगे। ज्ञानप्रकाश के असमंजस की बात भी लिखी। अन्त में इस बात पर जोर दिया कि किसी और विचार से नहीं, तो ज्ञानू के प्रेम के नाते तुम्हें इस बन्धन में पड़ना होगा।

सत्यप्रकाश को यह पत्र मिला ; तो उसे बहुत खेद हुआ। मेरे भ्रातृ-स्नेह का यह परिणाम होगा, मुझे न मालूम था। इसके साथ ही उसे यह ईर्ष्यामय आनन्द हुआ कि अम्मा और दादा को अब तो कुछ मानसिक पीड़ा होगी। मेरी उन्हें क्या चिन्ता थी! मैं मर भी जाऊँ तो भी उनकी आँखों में आँसू न आयें। ७ वर्ष हो गये कभी भूलकर भी पत्र न लिखा कि मरा है, या जीता है। अब कुछ चेतावनी मिलेगी। ज्ञानप्रकाश अन्त में विवाह करने पर राजी तो हो ही जायगा, लेकिन सहज में नहीं। कुछ नहीं तो मुझे एक बार अपने इनकार के कारण लिखने का अवसर मिला। ज्ञानू को मुझसे प्रेम है, लेकिन उसके कारण मैं पारिवारिक अन्याय का दोषी न बनूँगा। हमारा पारिवारिक जीवन संपूर्णतः अन्यायमय है। यह कुमति और वैमनस्य क्रूरता और नृशंसता का बीजारोपण करता है। इसी माया में फँसकर मनुष्य अपनी प्यारी सन्तान का शत्रु हो जाता है। मैं आँखों देखकर यह मक्खी न निगलूँगा। मैं ज्ञानू को समझाऊँगा अवश्य। मेरे पास जो कुछ जमा है, वह सब उसके विवाह के निमित्त अर्पण कर दूँगा। बस, इससे ज्यादा मैं और कुछ नहीं कर सकता। अगर ज्ञानू भी अविवाहित ही रहे, तो संसार कौन-सा सूना हो जायगा? ऐसे पिता का पुत्र क्या वंशपरम्परा का पालन करेगा? क्या उसके जीवन में फिर वही अभिनय न दुहराया जायगा, जिसने मेरा सर्वनाश कर दिया?

दूसरे दिन सत्यप्रकाश ने ५००) पिता के पास भेजे और पत्र का उत्तर लिखा कि मेरा अहोभाग्य जो आपने मुझे याद किया। ज्ञानू का विवाह निश्चित हो गया, इसकी बधाई? इन रुपयों से नववधू के लिए कोई आभूषण बनवा दीजिएगा। रही मेरे विवाह की बात। सो मैंने अपनी आँखों से देखा और मेरे सिर पर जो कुछ बीती है, उस पर ध्यान देते हुए यदि मैं कुटुम्बपाश में फसूँ तो मुझसे बड़ा उल्लू संसार में न होगा। आशा है, आप मुझे क्षमा करेंगे। विवाह की चर्चा ही से मेरे हृदय को आघात पहुँचता है।

दूसरा पत्र ज्ञानप्रकाश को लिखा कि माता-पिता की आज्ञा को शिरोधार्य

करो। मैं अपढ़, मूर्ख, बुद्धिहीन आदमी हूँ, मुझे विवाह करने का कोई अधिकार नहीं है। मैं तुम्हारे विवाह के शुभोत्सव में सम्मिलित न हो सकूँगा, लेकिन मेरे लिए इससे बढ़कर आनन्द और सन्तोष का विषय नहीं हो सकता।

८

देवप्रकाश यह पढ़कर अवाक् रह गये। फिर आग्रह करने का साहस न हुआ। देवप्रिया ने नाक सिकोड़कर कहा—यह लौंडा देखने ही को सीधा है, है ज़हर का बुझाया हुआ! सौ कोस पर बैठा हुआ बरछियों से कैसा छेद रहा है!

किन्तु ज्ञानप्रकाश ने यह पत्र पढ़ा, तो उसे मर्माघात पहुँचा। दादा और अम्मा के अन्याय ने ही उन्हें यह भीषण व्रत धारण करने पर बाध्य किया है। इन्हीं ने उन्हें निर्वासित किया है और शायद सदा के लिए। न जाने अम्मा को उनसे क्यों इतनी जलन हुई। मुझे तो अब याद आते हैं कि किशोरावस्था ही से वह बड़े आज्ञाकारी, विनयशील और गंभीर थे। उन्हें अम्मा की बातों का जवाब देते नहीं सुना। मैं अच्छे-से-अच्छे खाता था, फिर भी उनके तीवर मैले न हुए, हालाँ कि उन्हें जलना चाहिए था। ऐसी दशा में अगर उन्हें गार्हस्थ्य जीवन से घृणा हो गई, तो आश्चर्य ही क्या? फिर, मैं ही क्यों इस विपत्ति में फसूँ? कौन जाने मुझे भी ऐसी ही परिस्थिति का सामना करना पड़े। भैया ने बहुत सोच-समझकर यह धारणा की है।

संध्या-समय जब उसके माता-पिता बैठे हुए इसी समस्या पर विचार कर रहे थे, ज्ञानप्रकाश ने आकर कहा—मैं कल भैया से मिलने जाऊँगा।

देवप्रिया—क्या कलकत्ते जाओगे?

ज्ञान०—जी हाँ।

देवप्रिया—उन्हीं को क्यों नहीं बुलाते?

ज्ञान०—उन्हें कौन मुँह लेकर बुलाऊँ? आप लोगों ने तो पहले ही मेरे मुँह में कालिख लगा दी है। ऐसा देव-पुरुष आप लोगों के कारण विदेश में ठोकर खा रहा है और मैं इतना निर्लज्ज हो जाऊँ कि...

देवप्रिया—अच्छा चुप रह, नहीं ब्याह करना है, न कर, जले पर लोन मत छिड़क! माता-पिता का धर्म है इसलिए कहती हूँ; नहीं तो यहाँ ठेंगे को परवा नहीं है। तू चाहे ब्याह कर, चाहे क्वाँरा रह; पर मेरी आँखों से दूर हो जा।

ज्ञान०—क्या मेरी सूरत से भी घृणा हो गई ?

देवप्रिया—जब तू हमारे कहने ही में नहीं, तो जहाँ चाहे रह, हम भी समझ लेंगे कि भगवान् ने लड़का ही नहीं दिया।

देव०—क्यों व्यर्थ ऐसे वचन बोलती हो ?

ज्ञान०—अगर आप लोगों की यही इच्छा है, तो यही होगा !

देवप्रकाश ने देखा कि बात का बतंगड़ हुआ चाहता है, तो ज्ञानप्रकाश को इशारे से टाल दिया और पत्नी के क्रोध को शान्त करने की चेष्टा करने लगे। मगर देवप्रिया फूट-फूटकर रो रही थी। बार-बार कहती थी—मैं इसकी सूरत न देखूँगी। अन्त में देवप्रकाश ने चिढ़कर कहा—तो तुम्हीं ने तो कटु-वचन कहकर उसे उत्तेजित कर दिया।

देवप्रिया—यह विष उसी चांडाल ने बोया है, जो यहाँ से सात समुद्र पार बैठा हुआ मुझे मिट्टी में मिलाने का उपाय कर रहा है। मेरे बेटे को मुझसे छीनने ही के लिए उसने यह प्रेम का स्वाँग भरा है। मैं उसकी नस-नस पहचानती हूँ। उसका यह मंत्र मेरी जान लेकर छोड़ेगा; नहीं तो मेरा ज्ञानू, जिसने कभी मेरी बात का जवाब नहीं दिया, यों मुझे न जलाता।

देव०—अरे, तो क्या वह विवाह ही न करेगा ! अभी गुस्से में अनाप-शनाप बक गया। जरा शान्त हो जायगा, तो मैं समझाकर राजी कर दूँगा।

देवप्रिया—मेरे हाथ से निकल गया।

देवप्रिया की आशंका सत्य निकली देवप्रकाश ने बेटे को बहुत समझाया। कहा—तुम्हारी माता इस शोक मे मर जायगी; किन्तु कुछ असर न हुआ। उसने एक बार 'नहीं' कहकर 'हाँ' न की। निदान, पिता भी निराश होकर बैठ रहे।

तीन साल तक प्रति वर्ष विवाह के दिनों में यह प्रश्न उठता रहा; पर ज्ञानप्रकाश अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहा। माता का रोना-धोना निष्फल हुआ। हाँ; उसने माता की एक बात मान ली, वह भाई से मिलने कलकत्ते न गया।

तीन साल में घर में बड़ा परिवर्तन हो गया। देवप्रिया की तीन कन्याओं का विवाह हो गया। अब घर में उसके सिवा कोई स्त्री न थी। सूना घर उसे खाये लेता था। जब वह नैराश्य और क्रोध से व्याकुल हो जाती तो सत्यप्रकाश

को खूब जी भरकर कोसती ; मगर दोनों भाइयों में प्रेम-पत्र का व्यवहार बराबर होता रहता था।

देवप्रकाश के स्वभाव में एक विचित्र उदासीनता प्रकट होने लगी। उन्होंने पेंशन ले ली थी। और प्रायः धर्म ग्रन्थों का अध्ययन किया करते थे। ज्ञानप्रकाश ने भी आचार्य की उपाधि प्राप्त कर ली थी और एक विद्यालय में अध्यापक हो गये थे। देवप्रिया अब संसार में अकेली थी।

देवप्रिया अपने पुत्र को गृहस्थी की ओर खींचने के लिए नित्य टोने-टोटके किया करती, बिरादरी में कौन-सी कन्या सुन्दर है, गुणवती है, सुशिक्षिता है—उसका बखान किया करती ; पर ज्ञानप्रकाश को इन बातों के सुनने की भी फुरसत न थी।

मोहल्ले और घरों में नित्य ही विवाह होते रहते थे। बहुएँ आती थीं, उनकी गोद में बच्चे खेलने लगते थे, घर गुलजार हो जाता था। कहीं बिदाई होती थी, कहीं बधाइयाँ आती थीं। कहीं गाना-बजाना होता था, कहीं बाजे बजते थे। यह चहल-पहल देखकर देवप्रिया का चित्त चंचल हो जाता। उसे मालूम होता, मैं ही संसार में सबसे अभागिनी हूँ। मेरे ही भाग्य में यह सुख भोगना नहीं बदा है। भगवान् ऐसा भी कोई दिन लायेगा कि मैं अपनी बहू का मुख-चन्द्र देखूँगी, बालकों को गोद में खिलाऊँगी! वह भी कोई दिन होगा कि मेरे घर में आनन्दोत्सव के मधुर गान की तानें उठेंगी! रात-दिन ये बातें सोचते-सोचते देवप्रिया की दशा उन्मादिनी की-सी हो गई ; आप-ही-आप सत्यप्रकाश को कोसने लगती—वही मेरे प्राणों का घातक है। तल्लीनता उन्माद का प्रधान गुण है। तल्लीनता अत्यन्त रचनाशील होती है। वह आकाश में देवताओं के विमान उड़ाने लगती है। अगर भोजन में नमक तेज़ हो गया, तो यह शत्रु ने कोई रोड़ा रख दिया होगा। देवप्रिया को अब कभी-कभी धोखा हो जाता कि सत्यप्रकाश घर में आ गया है ; वह मुझे मारना चाहता है ; ज्ञानप्रकाश को विष खिलाये देता है। एक दिन उसने सत्यप्रकाश के नाम एक पत्र लिखा और उसमें जितना कोसते बना, कोसा—तू मेरे प्राणों का बैरी है, मेरे कुल का घातक है, हत्यारा है। वह कौन दिन आयेगा कि तेरी मिट्टी उठेगी। तूने मेरे लड़के पर वशीकरण मन्त्र चला दिया है। दूसरे दिन फिर ऐसा ही

एक पत्र लिखा, यहाँ तक कि यह उसका नित्य का कर्म हो गया। जब तक एक चिट्ठी में सत्यप्रकाश को गालियाँ न दे लेती, उसे चैन ही न आता। इन पत्रों को वह कहारिन के हाथ डाकघर भिजवा दिया करती।

१०

ज्ञानप्रकाश का अध्यापक होना सत्यप्रकाश के लिए घातक हो गया। परदेश में उसे यही सन्तोष था कि मैं संसार में निराधार नहीं हूँ। अब यह अवलम्ब जाता रहा। ज्ञानप्रकाश ने जोर देकर लिखा—अब आप मेरे हेतु कोई कष्ट न उठावें। मुझे अपनी गुजर करने के लिए काफ़ी से ज्यादा मिलने लगा है।

यद्यपि सत्यप्रकाश की दूकान खूब चलती थी; लेकिन कलकत्ते जैसे शहर में एक छोटे से दूकानदार का जीवन बहुत सुखी नहीं होता। साठ-सत्तर रुपये की मासिक आमदनी होती ही क्या है। अब तक वह जो कुछ बचाता था; वह वास्तव में बचत न था; बल्कि त्याग था। एक वक्त रूखा-सूखा खाकर, एक तंग आर्द्र कोठरी में रहकर २०–३० रुपये बच रहते। अब दोनों वक्त भोजन मिलने लगा। कपड़े भी ज़रा साफ़ पहनने लगा। मगर थोड़े ही दिनों में उसके ख़र्च में औषधियों की एक मद बढ़ गई। फिर वही पहले की-सी दशा हो गई। बरसों तक शुद्ध वायु प्रकाश और पुष्टिकर भोजन से वंचित रहकर अच्छे से अच्छा स्वास्थ्य भी नष्ट हो सकता है। सत्यप्रकाश को अरुचि, मंदाग्नि आदि रोगों ने आ घेरा। कभी-कभी ज्वर भी आ जाता। युवावस्था में आत्मविश्वास होता है। किसी अवलंब की परवा नहीं होती। वयोवृद्धता दूसरों का मुँह ताकती है, कोई आश्रय ढूँढ़ती है। सत्यप्रकाश पहले सोता, तो एक ही करवट में सबेरा हो जाता। कभी बाजार से पूरियाँ लेकर खा लेता, कभी मिठाई पर टाल देता। पर अब रात को अच्छी तरह नींद न आती, बाजारू भोजन से घृणा होती। रात को घर आता, तो थककर चूर-चूर हो जाता। उस वक्त चूल्हा जलाना तथा भोजन पकाना बहुत अखरता। कभी-कभी वह अपने अकेलेपन पर रोता, रात को जब किसी तरह नींद न आती, तो उसका मन किसी से बातें करने को लालायित होने लगता; पर वहाँ निशान्धकार के सिवा और कौन था? दीवारों के कान चाहे हों, मुँह नहीं होता। इधर ज्ञानप्रकाश के पत्र भी अब कम आते थे

और वे भी रूखे। उनमें अब हृदय के सरल उद्‌गारों का लेश भी न रहता। सत्यप्रकाश अब भी वैसे ही भावमय पत्र लिखता था; पर एक अध्यापक के लिए भावुकता कब शोभा देती है? शनै-शनैः सत्यप्रकाश को भ्रम होने लगा कि ज्ञानप्रकाश भी मुझसे निष्ठुरता करने लगा, नहीं तो क्या मेरे पास दो चार दिन के लिए आना असम्भव था? मेरे लिए तो घर का द्वार बन्द है, पर उसे कौन-सी बाधा है! उस गरीब को क्या मालूम कि यहाँ ज्ञानप्रकाश ने माता से कलकत्ते न जाने की कसम खा ली है। इस भ्रम ने उसे और भी हताश कर दिया।

शहरों में मनुष्य बहुत होते हैं, पर मनुष्यता विरले ही में होती है। सत्यप्रकाश उस बहुसंख्यक स्थान में भी अकेला था। उसके मन में एक नई आकांक्षा अंकुरित हुई। क्यों न घर लौट चलूँ? किसी संगिनी के प्रेम की क्यों न शरण लूँ? वह सुख और शान्ति और कहाँ मिल सकती है? मेरे जीवन के निराशांधकार को और कौन ज्योति आलोकित कर सकती है। वह इस आवेश को अपनी संपूर्ण विचार-शक्ति से रोकता; पर जिस भाँति किसी बालक को घर में रखी हुई मिठाइयों की याद बार-बार खेल से घर खींच लाती है, उसी तरह उसका चित्त भी बराबर उन्हीं मधुर चिन्ताओं में मग्न हो जाता था। वह सोचता—मुझे विधाता ने सब सुख से वंचित कर दिया है, नहीं तो मेरी दशा ऐसी हीन क्यों होती? मुझे ईश्वर ने बुद्धि न दी थी क्या? क्या मैं श्रम से जी चुराता था? अगर बालपन ही में मेरे उत्साह और अभिरुचि पर तुषार न पड़ गया होता, मेरी बुद्धि-शक्तियों का गला न घोंट दिया गया होता, तो मैं भी आज आदमी होता, पेट पालने के लिए इस विदेश में न पड़ा रहता। नहीं, मैं अपने ऊपर यह अत्याचार न करूँगा।

महीनों तक सत्यप्रकाश के मन और बुद्धि में यह संघर्ष होता रहा। एक दिन वह दूकान से आकर चूल्हा जलाने जा रहा था कि डाकिये ने पुकारा। ज्ञानप्रकाश के सिवा उसके पास और किसी के पत्र न आते थे। आज ही उसका पत्र आ चुका था, यह दूसरा पत्र क्यों। किसी अनिष्ट की आशंका हुई। पत्र लेकर पढ़ने लगा। एक क्षण में पत्र उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ा और वह सिर थामकर बैठ गया कि जमीन पर न गिर पड़े। यह देवप्रिया की विषयुक्त

लेखनी से निकला हुआ जहर का तीर था, जिसने एक पल में उसे संज्ञाहीन कर दिया। उसकी सारी मर्मान्तक व्यथा—क्रोध, नैराश्य, कृतघ्नता, ग्लानि—केवल एक ठण्डी साँस में समाप्त हो गई।

वह जाकर चारपाई पर लेट रहा। मानसिक व्यथा आप-से-आप पानी हो गई। हा! सारा जीवन नष्ट हो गया! मैं ज्ञानप्रकाश का शत्रु हूँ? मैं इतने दिनों में केवल उसके जीवन को मिट्टी में मिलाने के लिए ही प्रेम का स्वाँग भर रहा हूँ? भगवान्? तुम्हीं इसके साक्षी हो।

तीसरे दिन फिर देवप्रिया का पत्र पहुँचा। सत्यप्रकाश ने उसे लेकर फाड़ डाला। पढ़ने की हिम्मत न पड़ी।

एक ही दिन पीछे तीसरा पत्र पहुँचा। उसका भी वही अन्त हुआ। फिर तो यह एक नित्य का कर्म हो गया। पत्र आता और फाड़ दिया जाता; किन्तु देवप्रिया का अभिप्राय बिना पढ़े ही पूरा हो जाता था। सत्यप्रकाश के मर्मस्थान पर एक चोट और पड़ जाती थी।

एक महीने की भीषण हार्दिक वेदना के बाद सत्यप्रकाश को जीवन से घृणा हो गई। उसने दूकान बन्द कर दी, बाहर आना-जाना छोड़ दिया। सारे दिन खाट पर पड़ा रहता। वे दिन याद आते, जब माता पुचकार कर गोद में बिठा लेती और कहती—बेटा! पिता संध्या-समय दफ्तर से आकर गोद में उठा लेते और कहते—भैया! माता की सजीव मूर्ति उसके सामने खड़ी होती, ठीक वैसी ही जब वह गंगा-स्नान करने गई थीं। उसकी प्यार-भरी बातें कानों में गूँजने लगतीं। फिर वह दृश्य सामने आता जब उसने नववधू माता को अम्माँ कहकर पुकारा था। तब उसके कठोर शब्द याद आ जाते। उसके क्रोध से भरे हुए विकराल नेत्र आँखों के सामने आ जाते। उसे अपना सिसक-सिसककर रोना याद आ जाता, फिर सौर-गृह का दृश्य सामने आता। उसने कितने प्रेम से बच्चे को गोद में लेना चाहा था! तब माता के वज्र के-से शब्द कानों में गूँजने लगते। हाय! उसी वज्र ने मेरा सर्वनाश कर दिया। ऐसी कितनी ही घटनाएँ याद आतीं। अब बिना किसी अपराध के माँ डाँट बताती, पिता का निर्दय, निष्ठुर व्यवहार याद आने लगता। उनका बात-बात पर त्योरियाँ बदलना, माता के मिथ्यापवादों पर विश्वास करना—हाय! मेरा सारा जीवन नष्ट हो गया! तब

वह करवट बदल लेता और वही दृश्य आँखों में फिरने लगते। फिर करवट बदलता और चिल्ला उठता—इस जीवन का अन्त क्यों नहीं हो जाता!

इस भाँति पड़े-पड़े उसे कई दिन हो गये। संध्या हो गई थी कि सहसा उसे द्वार पर किसी के पुकारने की आवाज सुनाई पड़ी। उसने कान लगाकर सुना और चौंक पड़ा—कोई परिचित आवाज थी। दौड़ा द्वार पर आया तो देखा, ज्ञानप्रकाश खड़ा है। कितना रूपवान् पुरुष था! उसके गले से लिपट गया। ज्ञानप्रकाश ने उसके पैरों को स्पर्श किया। दोनों भाई घर में आये। अन्धकार छाया हुआ था। घर की यह दशा देखकर ज्ञानप्रकाश, जो अब तक अपने कंठ के आवेग को रोके हुए था, रो पड़ा। सत्यप्रकाश ने लालटेन जलाई। घर क्या था, भूत का डेरा था। सत्यप्रकाश ने जल्दी से एक कुरता गले में डाल लिया। ज्ञानप्रकाश भाई का जर्जर शरीर, पीला मुख, बुझी हुई आँखें देखता और रोता था।

सत्य०—मैं आजकल बीमार हूँ।

ज्ञान०—यह तो देख ही रहा हूँ।

सत्य०—तुमने अपने आने की सूचना भी न दी, मकान का पता कैसे चला?

ज्ञान०—सूचना तो दी थी, आपको पत्र न मिला होगा।

सत्य०—अच्छा, हाँ, दी होगी, पत्र दूकान में डाला गया होगा। मैं इधर कई दिनों से दूकान नहीं गया। घर पर सब कुशल है?

ज्ञान०—माताजी का देहान्त हो गया।

सत्य०—अरे! क्या बीमार थीं?

ज्ञान०—जी नहीं। मालूम नहीं क्या खा लिया। इधर उन्हें कुछ उन्माद-सा हो गया था। पिताजी ने कुछ कटु बचन कहे थे, शायद इसी पर कुछ खा लिया।

सत्य०—पिताजी तो कुशल से हैं?

ज्ञान०—हाँ, अभी मरे नहीं हैं।

सत्य—अरे! क्या बहुत बीमार हैं?

ज्ञान०—माता ने विष खा लिया तो वह उनका मुँह खोलकर दवा पिला रहे थे। माताजी ने जोर से उनकी दो उँगलियाँ काट लीं। वही विष उनके शरीर में

पहुँच गया। उनका सारा शरीर सूज आया है। अस्पताल में पड़े हुए हैं। किसी को देखते हैं तो काटने दौड़ते हैं। बचने की आशा नहीं है।

सत्य०—तब तो घर चौपट हो गया।

ज्ञान०—ऐसे घर को इससे बहुत पहले चौपट हो जाना चाहिए था।

* * *

तीसरे दिन दोनों भाई प्रातःकाल कलकत्ते से बिदा होकर चल दिये।